सहजानंद शास्त्रमाला

पंचाध्यायी प्रवचन

भाग 11

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

श्री दि. जैन महिला मंडल,
श्री ...,
मल्हारगंज, इन्दौर.

पञ्चाध्यायी प्रवचन

एकादश व द्वादश भाग

प्रवक्ता:
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७५ लागत [१०) रु०

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

∘∘∘○○∘∘∘

[धर्मप्रेमी बंधुओ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

http://sahjanandvarnishastra.org/

पंचाध्यायी प्रवचन एकादश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥३७१॥

ज्ञाततत्त्व, सुदृष्टि पुरुषकी आत्मदर्शिता—इस श्लोकसे पहिले तत्त्वोंका वर्णन था। ९ तत्त्वोंमें रहते हुए वह जीव अपने आपके सहजस्वरूपसे शुद्ध है, अर्थात् उन ९ पदार्थोंमें देखी जाने वाली विशेषताओंसे परे है, उस शुद्ध आत्मद्रव्यका वर्णन था और जिसके आलम्बन से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, यह वर्णन करके फिर आत्मा स्वयं ज्ञानसुख रूप है। संसारमें सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है। यह समस्त तत्त्वोंका वर्णन करनेके बाद अब यहाँ कह रहे हैं कि जिसने इस प्रकारके तत्त्वको जाना ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आत्माका द्रष्टा है। सम्यग्दृष्टि जीवको निरन्तर ही अपने आपकी प्रतीति रहती है, चाहे वह उपयोगसे कितना ही बाहर चला गया और बाहरी पदार्थोंमें कितना ही उपयोग लगा दिया, इतनेपर भी अपने आत्माके स्वरूप का भान उसे निरन्तर रहता है। जैसे कि मनुष्योंको प्रायः अपने नामका भान निरन्तर है। चलते-फिरते, बोलते-चालते, खाते-पीते, सोते-जागते, पूजन-वन्दन करते आदि समस्त क्रियाओं के करते हुए सर्वत्र अपने नामका भान रहता है। सोते हुएमें भी अगर कोई धीरेसे नाम लेकर भी कुछ कह रहा हो तो वह जग जाता है। किसी दूसरेका नाम लेकर चाहे जोरसे भी कहा जाय, पर नहीं जगता, तो बात वहाँ यही है कि अपने नामका भान इसे निरन्तर रहता है। कोई मनुष्य भोजन कर रहा हो, मान लो खूब चित्त एकाग्र करके बहुत ही मस्त होता हुआ भोजन कर रहा हो तो वहाँ यद्यपि उसका अपने नामकी और उपयोग नहीं है, उपयोग तो लगा है भोजनकी ओर, फिर भी उसको उस समय भी अपने नामका भान बराबर बना हुआ है। ठीक इसी प्रकारसे इस एक ज्ञायकस्वभावी निज आत्मतत्त्वका जिन्होंने दर्शन किया, उनका उपयोग बाहरमें कितनी ही जगह लग जाय फिर भी उन्हें अपने आत्मस्वरूपका भान निरन्तर बना रहता है। इस मर्मको न जानने वाले लोग बहुतसी शंकायें कर सकते हैं। देखिये—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रामचन्द्रजी सीताजी के वियोगमें कितना विह्वल रहे, लक्ष्मणके मरण हो जानेपर ६ माह तक कितना विह्वल रहे, लेकिन इतनी विह्वलतायें होनेपर भी श्रीरामको अपने आत्मस्वरूपका भान बराबर बना हुआ था, इस बातकी सिद्धिके लिए उस सोये हुए व्यक्तिका ही दृष्टान्त काफी है। तो प्रयोजन यह है कि जिसकी जिस ओर धुन लग गयी, जिसका यह निर्णय हो गया कि यह मैं हूं और मेरी यह सुखरूप अवस्था है उसको उसका भान रहता है।

सम्यग्दृष्टिकी इन्द्रियज सुख और ज्ञानसे विरक्ति—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने आत्माका दर्शी है, ऐसा यह पुरुष सम्यग्दृष्टि वैषयिक सुखोंमें और वैषयिक ज्ञानमें राग और द्वेषको छोड़े। (छोड़ता है) छोड़े, ऐसी यहाँ विधिरूपा क्रिया कही है लेकिन जिसके प्रति भक्ति उमड़ती है उसे भी आशीर्वादात्मक शब्दोंमें भक्त लोग कह बैठते हैं, आशीर्वाद दें, जयवन्त इस तरहके आशीर्वादको कोई करें। कहे कि इसे छोटे लोग या बड़े लोग ही करते हैं, सो बात नहीं। यह तो अनुरागवश होता है। जैसे कहते हैं कि सिद्ध प्रभु जयवन्त रहो—हम न कहें तो क्या उनका जयवन्तपना मिट जायगा? नहीं मिटेगा, लेकिन जब भक्ति बढ़ती है तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि प्रभो! तुम्हारे ऐसे आनन्दकी दशा शाश्वत रहे, तो इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुषपर ये ग्रन्थकार भी अनुरक्त हो रहे हैं, क्योंकि सम्यक्त्व पदकी प्राप्ति, अपने आपके उस शुद्ध अंतस्तत्वका दर्शन होना, यह कोई साधारण बात नहीं है। संसारसंकटोंको समाप्त कर देने वाली यह बात है। तो उसपर यह ग्रन्थकार अनुरक्त है तो कहता है कि रागद्वेषको छोड़ना है। किसके प्रति छोड़ना है? वैषयिक सुखके प्रति, वैषयिक ज्ञानके प्रति न राग करना है, न द्वेष करना है। देखिये इन वैषयिक ज्ञान व सुख की बड़ी लम्बी चर्चा इससे पहिले की गई है कि ये वैषयिक सुख दुःखरूप हैं, पराधीन हैं, ये निकृष्ट हैं, इनका पाना कठिन है। यों कितनी ही बातें कही गई हैं। इतनी बात यदि कोई दूसरेको कह दे तो सदाके लिए ताँता टूट जायगा, मित्रता खत्म हो जायगी, लेकिन यहाँ वैषयिक सुख ज्ञानकी इतनी बात सुनकर भी वहांसे चित्त न हटाया तो यह कितना एक मोहांधकारका विलास है? तो ये वैषयिक सुख और वैषयिक ज्ञानोंसे सम्यग्दृष्टि जन उदासीन हो जाते हैं, इस बातका वर्णन इस गाथामें किया गया है।

ननूल्लेखः किमेतावान् अस्ति किंवा परोप्यतः।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाञ्चितः पुमान् ॥३७२॥

तथ्यजिज्ञासुकी सम्यग्दृष्टिके सम्बन्धमें और भी लक्षणोंके जाननेकी इच्छा—अब सम्यग्दृष्टि पुरुषकी इतनी महिमा सुनकर जो कि वे अभी एक श्लोकमें ही तो कहा गया, इससे ही जिज्ञासु भी चूँकि बुद्धिमान है, श्रोता भी बुद्धिमान है तो इतनी बात सुनकर ही वह पूछ रहा है कि सम्यग्दृष्टिके विषयमें क्या इतना ही कथन है? इस जिज्ञासामें सम्यग्दृष्टिके प्रति

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कितना अनुराग मालूम हो रहा है इस प्रश्नकर्ताका ? वह जानना चाहता है कि सम्यग्दृष्टिके बारेमें और भी वर्णन होगा। जैसे जब गप्पाष्टकमें लगते हैं गप्पी और उसमें बैठने वाले लोग जब गप्प खत्म करने वाले होते हैं तो किसी दूसरेसे कह बैठते हैं कि भाई अब तुम कोई चर्चा छेड़ दो, इन गप्पोंमें बड़ा मौज आ रहा है। खूब गप्पें सुनाते रहो, बड़ा आनन्द आ रहा है। जब गप्पें समाप्त होनेको होती हैं तो उन्हें कुछ विषादसा होता है। यह रुचिप्रभावका दृष्टान्त दिया है। समयसारका अध्ययन करने वाले लोग जब उपान्त्य गाथाका अन्तिम कलश पढ़ते हैं, जहां यह कहा है कि अब यह ग्रंथ पूर्णताको प्राप्त हो रहा है, तो इतनी बात सुन कर उस समयसारके अनुरागी पुरुषको एक विषादसा होने लगता है। वह तो यही चाहता है कि यह चर्चा और भी चलती रहती तो बहुत ही आनन्द मिलता। उस जिज्ञासु पुरुषका वह विषाद भी शुभोपयोग है। यहां जिज्ञासु पूछता है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके विषयमें क्या और भी कथन है, क्या और भी लक्षण है, जिससे जाना जाय कि यह सम्यग्दृष्टि है ? अब उस जिज्ञासाके समाधानमें कह रहे हैं।

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैं संलक्ष्यते सदृक् ॥३७३॥

सम्यक्त्वके साथ प्रकट होने वाले सुलक्षणोंकी वक्ष्यमाणताका निर्देश—सम्यग्दृष्टिके और भी अनेक लक्षण हैं जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं याने सम्यग्दर्शन हो तो यह लक्षण होता ही है। तब उन लक्षणोंको जानकर सम्यक्त्वकी पहिचान हो जाती है। वे लक्षण सम्यक्त्वके अविनाभावी हैं, सम्यक्त्वके बिना नहीं हो सकते, मगर आजकल भी जैसे आर्टीफिसल मोती चले हैं, ऐसे ही प्रशम सम्वेग आदिक लक्षण जो सम्यग्दृष्टिके हैं कदाचित् मिथ्यादृष्टिमें भी दिखें तो उनकी इस तरहसे कोई कीमत नहीं है जैसे कि आर्टीफिसल मोतीकी। इनके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि पुरुषके ऐसे-ऐसे लक्षण आगे बताये जायेंगे जो कि सम्यग्दर्शनके हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकते। जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी लक्षण हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि पुरुष जान जाता है। वे सम्यग्दृष्टि पुरुषके लक्षण क्या हैं, इस बड़ी बातको बतानेके लिए थोड़े शब्दोंमें कैसे बताया जा सकता है ? उसके लिए तो कुछ विवेचनपूर्वक कथन होगा, जिससे स्वयं ही बीच-बीच जाहिर होता रहेगा कि सम्यग्दृष्टिके देखो ये ये लक्षण हैं। सम्यग्दृष्टिके लक्षण बतानेसे पहिले सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतला रहे हैं। स्वरूप और लक्षणमें अन्तर कुछ नहीं है कि यह है सम्यग्दृष्टिका स्वरूप और यह है इसका लक्षण। उन्हीं लक्षणोंमें से किसी एक खास लक्षण रूपको पहिले रखना यह तो हुआ स्वरूप और उसके बाद फिर जितना पहिचानके लिए कहा जाय वह कहलाता है लक्षण। यद्यपि सभी लक्षण हैं, लेकिन किसके लक्षण हैं ? जिनका नाम लेंगे तो उसके साथ कुछ थोड़ा बोलना ही तो होगा, वह हो जायगा स्वरूप और वह हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जायगा लक्षण । जैसे कि किसी भी द्रव्यका वर्णन करने चलेंगे तो किसी एक गुणको मुख्य बताकर उसमें अन्य गुणोंको स्थापित करके फिर उनमें गुण बतायेंगे । तो एक गुणको मुख्य करके कहा सो वह गुणी हो गया व जिन गुणोंका संकेत किया है वे गुण हो गये उस समय उसका स्वरूप । अब आगे जितना बताया जायगा वह कहलायेगा उसका लक्षण । तो सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतलाते हैं ।

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥३७४॥

इन्द्रियज ज्ञान व सुखकी सम्यग्दृष्टिके अनादेयता—सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतलावो—यह एक कहनेको तो छोटा प्रश्न है, पर समाधान देनेके लिए एक बड़ी समस्या अथवा एक बड़ा विषय है । जैसे कि कोई लोग चलते-फिरते कहीसे आकर कहने लगते कि महाराज हमें सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतला दो । तो देखिये—कहनेमें तो यह एक छोटा प्रश्न मालूम होता है, पर इसका उत्तर देनेमें बहुत बड़ा समय लग जायगा । आखिरमें यही कहना पड़ेगा कि इसके आप थोड़ेमें पूछो । तो वह पूछेगा—अच्छा बताइये सम्यग्दृष्टिमें क्या-क्या गुण हैं ? वह किस तरहसे मोक्ष जा सकता है ? अब बताओ—संक्षेपमें कैसे इसका उत्तर थोड़े शब्दोंमें कहा जाय ? तो इसी तरह सो समझिये सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बताओ ? ऐसा प्रश्न होनेपर इसे थोड़े शब्दोंमें कैसे बताया जा सकता है ? तो इस ही स्वरूपको कहनेके लिए कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन चलेगा और वह भूमिका सहित वर्णन चलेगा । इस श्लोकमें कहते हैं कि पहिले जितनी भी वैषयिक सुख और ज्ञानकी बात कही गई थी वह सब सम्यग्दृष्टिके अनादेय है । जिसको सामने यह दिख रहा है कि यह मैं जीव कोई समय तो आनेको ही है ऐसा कि इसको इस शरीरसे विदा होना पड़ेगा, तो इस शरीरका क्या हाल होगा ? लोग इसे जला देंगे, जलकर यह शरीर राख हो जायगा । और यहाँसे मरण करके कहीं अन्यत्र पहुंच गए, फिर यहाँका समागम (इस मनुष्य पर्यायका प्राप्त समागम) मेरे लिए क्या रहेगा ? आज इन मूर्तिक मायामयी, विनाशीक समागमोंमें, वैषयिक साधनोंमें, इन्द्रियसुखोंमें जो इतनी रति की जा रही है, इससे मेरा पूरा नहीं पड़नेका । यहाँको ये समस्त बाह्य चीजें हेय हैं, ऐसी जिसकी दृष्टि बन गई है वह है सम्यग्दृष्टि । यह एक पहिला लक्षण सम्यग्दृष्टिका समझ लीजिए । उसके अंदरमें इस प्रकारका निर्णय पड़ा हुआ है कि ये वैषयिक सुख हेय हैं, इन वैषयिक सुखोंको भोगने वाला व्यक्ति इनके भोगनेसे पहिले भी दुःखी रहता है, जब उस दुःखसे पीड़ित होकर विषयोंके साधन जुटाता है तब दुःखी रहता है । जब विषयसाधन प्राप्त हैं उस समय भी यह दुःखी रहता है, और विषय भोग चुका तो उसके बाद भी यह दुःखी रहता है । हाँ, दुःख सब जगहके अपने-अपने किस्मके ही हैं, और कोई भी दुःख कम नहीं है । विषय भोगनेके बाद जो दुःख होता है वह कम नहीं है और

http://sahjanandvarnishastra.org/

अन्य बातोंमें रुचि नहीं रही है। ऐसा यह ज्ञानी जीव इसके इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञान ये ही मात्र हेय नहीं हैं, किन्तु इसी प्रकार समस्त कर्म भी उसके लिए त्याज्य हैं, यह भी प्रत्यक्ष दिख रहा है।

वैषयिक सुख व उसके कारणभूत कर्मबन्धकी अनभीष्टता—एक क्षणकी असावधानीमें ७० कोड़ाकोड़ी सागर तकका कर्मबन्ध हो जाता है। बताइये इतनी लम्बी स्थितिका कर्मबन्ध आपको अभीष्ट है क्या ?…नहीं। एक कोड़ाकोड़ीका।…अरे यह भी बहुत लम्बा काल है। तो क्या एक सागरका कर्मबन्ध इष्ट है ?…अरे यह भी बहुत लम्बा काल है। एक सागरकी तो बात क्या, एक क्षणका भी कर्मबन्ध ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषको अभीष्ट नहीं है। अरे एक क्षणका कर्मबन्ध भी इस जीवको संसारगर्तमें पटकनेका कारण बन जाता है। सुखमें भी यह जीव बेहोश होता है, व्यामुग्ध रहता है। कोई बड़े गद्देदार पलंगोंमें रहे, बड़े आरामके साधनों के बीच रहे, लेकिन वह तो उस सुखकी स्थितिमें भी निरन्तर अशान्त रहता है, बेचैन रहता है तो वह सुख भी वस्तुतः दुःखरूप है। इसका विश्लेषण अगर भली प्रकार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञानमें आयगा कि ये सांसारिक सुख और दुःख दोनों बराबर हैं और कभी-कभी तो यह नजर आ जाता है कि इस सांसारिक सुखसे तो दुःख भला है, क्योंकि दुःखके अवसर पर परमात्माका स्मरण करना सुगम है। सुख-साधनोंके बीच रहकर आत्मा परमात्माका कुछ भी ध्यान नहीं रहता। तो ये सांसारिक सुख और दुःख दोनों ही हेय हैं, इस बातका पूर्ण निर्णय ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके होता है। ऐसे सम्यग्दृष्टिके सर्व प्रथम ऐसा ही सम्यग्दृष्टिका स्वरूप प्रकट होता है।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥

वस्तुतः सूक्ष्मगुणभूत सम्यक्त्वकी केवलज्ञानगोचरता व परम्परया परमावधि, सर्वावधि व मनःपर्ययज्ञानकी गोचरता—सम्यग्दृष्टिके स्वरूपके वर्णनका संकल्प किया गया था। तो सम्यग्दृष्टिका स्वरूप यहाँ भूमिका सहित वर्णन किया जा रहा है। यहाँ यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शन तो वास्तवमें ऐसा सूक्ष्म गुण है अथवा चेतनका ऐसा विशुद्ध विकास है कि वह केवलज्ञानका विषयभूत है। सो केवलज्ञान तो सम्यक्त्वकी बातको भली प्रकार जानता ही है, पर किसी रूपसे अवधिज्ञानमें परमावधि और सर्वावधि तथा मनःपर्ययज्ञानका भी यह विषयभूत हो जाता है। यद्यपि अवधिज्ञानरूपी पदार्थोंको ही जानता है और सम्यक्त्वरूपी है नहीं, किन्तु सम्यक्त्वके आवरण करने वाले कर्म जब वहाँ उपशम या क्षयोपशमको प्राप्त हैं अथवा क्षयको प्राप्त हैं तो कर्मोंकी दशा तो रूपी दशा है, उसके यथाभूत सद्भाव अभावका परिज्ञान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बादमें दुःख है वह भी कम नहीं और भोगके समय जो दुःख है वह भी कम नहीं। हाँ उन दुःखोंकी जातियाँ न्यारी-न्यारी हैं मगर क्लेश सभीमें है। तो ऐसे ये वैषयिक सुख और ये इन्द्रियज ज्ञान इस सम्यग्दृष्टिके अनादेय हैं, त्याज्य हैं और किसी प्रकार उन सुखोंके कारणभूत सर्वप्रकारके कर्मबन्ध भी त्याज्य हैं।

शुद्धात्मदर्शन व मन्दकषायताकी अभीसे साधारणपदमें आवश्यकता—शुद्ध आत्म-स्वरूपपर दृष्टि होना और कषायोंको मंद रखना—ये दो ही बातें तो इस भवमें कर्तव्यकी हैं। और पद-पद पर थोड़ा बाहरमें उपयोग गया तो फिर उनसे निवृत्त हो होकर धुन इसकी रहे कि मेरे आत्मतत्त्वका दर्शन बनो—ऐसा निर्णय जिसके चित्तमें पड़ा हुआ है वह इन वैषयिक सुखोंमें क्या प्रीति करेगा? प्रीति नहीं करता, फिर भी ऐसे साधनोंसे विरक्तजनोंको भोजन किए बिना तो न चलेगा। करना पड़ता है भोजन, पर भोजन करते हुए भी उनकी कैसी विशुद्ध दृष्टि रहती है कि यदि इस पेटको भोजन न देंगे तो हम अपने ध्यान संयमकी साधना में सफल नहीं हो सकते। यह बात तब ज्यादह निर्णयमें समा जाती है जब दो एक दिन भोजन नहीं मिलता, तब विवेक जगता है कि इस समय यह ध्यान संयम नहीं सध पाता है तब यह ख्याल होता है कि ओह! हमें इतनी हठ न करना चाहिए। जिसका योग मिला है, जो जिस लायक है उस योग्यप्रवृत्ति करना है। तो भोजन करना, शरीरका रखना इस भवमें कुछ कामका है ताकि हम इस भवमें जो ज्ञान पाया है, जो दृष्टि पाया है उसे हम अच्छी तरहसे बनाये रहें ताकि शिवमार्गमें हम बढ़ते चले जायें, आगे कभी धोखा न हो सके। इस के लिए उसका प्रयोजन है। इस ही बातकी प्राप्तिका प्रयोजन ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषको हर क्रियावोंमें होता है। बस एक ही केवल ध्यान है कि जिस किसी भी प्रकार हो मेरा यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपमें मग्न हो जाय। यह धुन जिसकी है उसके लिए फिर जो करता है वह भी ठीक ही है। जैसे कि एक लौकिक बात यह देखी जाती है कि अगर कोई बड़े बूढ़े स्त्री अथवा पुरुष कहीं भी जायें, कहीं भी उठे बैठें तो उनके लिए कोई कुछ नहीं कहता, उनके लिए व्यवहारमें निंद्यताका भाव किसीको नहीं होता, इसी प्रकार जिस सम्यग्दृष्टि पुरुषको अपने आत्मतत्त्वकी दृष्टिकी धुन है उसकी बाहरमें कैसी ही प्रवृत्तियां दिखें लेकिन वे सब अविघातक ही कही गई हैं। (यह बात सम्यग्दृष्टिके प्रसंगमें सम्यग्दृष्टिके अनुरागमें कही जा रही है) लेकिन यह बात दूसरे लोग ही तो सोचते हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं सोचता। वह तो जानता है कि यह भी मेरी कमी है, यह भी मेरे लिए एक दोषकी बात है, मैं स्वयं अपने इस ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित रहूं, यह काम अभी मेरेसे नहीं हो पा रहा। अब देखिये नहीं हो पा रहा ज्ञान ज्ञानमें प्रतिष्ठित, लेकिन ऐसा पुरुष बाहरमें कोई प्रवृत्ति करेगा तो वह दंदफंदकी न करेगा, वह करेगा इस ही ज्ञानसाधनासे सम्बंधित प्रवृत्ति। अन्य प्रकारसे नहीं, क्योंकि उसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो अवधिज्ञानी कर सकता है और जो इतने विशिष्ट ज्ञानी पुरुष हैं जिन्होंने अवधिज्ञान द्वारा उन कर्मोंकी दशाका प्रत्यक्ष किया है तो क्या उससे अविनाभूत जो सम्यक्त्व विकास है उसे न परख लेवेगा। हाँ सम्यक्त्वविकासको साक्षात् न परखेगा, पर उपशमकी क्षायोपशमिक व क्षय की अवस्था जब जान लिया तो अविनाभूत जो अवस्था है उसे जान लिया, यह बात सिद्ध है। परमावधि और सर्वावधि तो बहुत सूक्ष्म विषय वाले हैं। हैं रूपी पदार्थ, पर इन ज्ञानोंका विषय बहुत सूक्ष्म व विशाल है, समस्त लोकको जान ले इतना तक विषय है। जानेगा रूपी और जब रूपी जानने वाले अवधिज्ञानके अनन्तवें भाग सूक्ष्म मनःपर्यायज्ञान जानता है तो किसी ढंगमें वह सम्यक्त्व मनःपर्ययज्ञानके विषयसे दूर नहीं रह सकता। इस तरह यह सर्वावधि, परमावधि और मनःपर्ययज्ञानका विषय भी सम्यक्त्व हो जाता है।

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक्।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥३७६॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व देशावधिज्ञानके विषयमें सम्यक्त्वकी अगोचरता—वह सम्यक्त्व किसी भी प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और देशावधिज्ञानका विषयभूत नहीं हो सकता। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका तो इतना सूक्ष्म विषय है ही नहीं और इतना सूक्ष्म विषय देशावधिज्ञान का भी नहीं है। अतः सम्यक्त्व इन ज्ञानोंका विषयभूत नहीं होता। किस विषयकी बात कही जा रही है? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व देशावधिज्ञान कर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अवस्था को नहीं जान सकते हैं अतः इनके द्वारा सम्यक्त्वका परिचय नहीं हो सकता। ये ज्ञान तो उदयावस्थासम्पन्न सत्त्वनिष्ठ कर्मको भी नहीं जानता। कर्मोंके क्षय क्षयोपशमका साक्षात्कार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और देशावधिज्ञान कैसे कर सकते हैं? कर्ममात्रको भी ये ज्ञान विषय नहीं कर पाते तो इनका विषय कर्मके क्षयोपशम आदिकसे अविनाभूत सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और देशावधिज्ञान—इन तीन ज्ञानोंके द्वारा उस सम्यक्त्वका बोध नहीं होता। परमावधि सर्वावधि मनःपर्ययज्ञानके द्वारा होगा, सो वह इन्डायरेक्ट होगा और केवलज्ञानके द्वारा विषयभूत होता है साक्षात्।

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥३७७॥

सम्यक्त्वकी निर्विकल्पता—आत्माका एक ऐसा कोई निर्विकल्प विलक्षण गुण है यह सम्यक्त्व जिस सम्यक्त्वके होनेपर यह आत्मा कृतार्थ हो जाता है। दुःख और सुख कहाँ पड़े हुए हैं? यहीं भीतरकी कल्पनामें। यह आत्मा वस्तुतः यह केवल ज्ञानस्वभावमात्र कहो, ज्ञानमात्र कहो, इसका किसीसे परिचय क्या? इसका किसीसे नाता क्या? कितनी बड़ी दुनिया, उसमें कितनी जगहमें रह रहे, कितना बड़ा काल, उसमें कितनेसे समयको रह रहे? यहाँ क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वास्ता है किसीसे ? इतनेपर भी यहाँ जो कुछ दिख रहा है वह मायास्वरूप है, परमार्थ पदार्थ नहीं है। तो यहाँ रमने योग्य कुछ भी नहीं है। जब यह निर्णय सम्यग्दृष्टिके पड़ा है तो उसके कारण बाह्य पदार्थोंके परिणमनके कारण वह अपने आपमें अपना सुधार-बिगाड़ नहीं समझता है तो ऐसी अनुभूति और उस आनंदस्वभावमय उस आत्मतत्त्वकी अनुभुति जिसे हुई है उसका जो विकास होता है, सम्यक्त्व होता है वह निर्विकल्प होता है, उसको किस शब्दसे बताया जाय ? यदि कहें उसको ऐसी शुद्ध प्रतीति हो गई है तो प्रतीति तो ज्ञानकी परिणति है, यदि कहें उसको शुद्ध आत्मद्रव्यमें रुचि हो गई है तो रुचि तो चारित्रगुणकी परिणति है। यदि कहें कि अजी उसका भान हो गया है तो वह भान भी ज्ञान है। सम्यक्त्व क्या है ? उसको बताने वाला कौनसा शब्द है ? यह कह सकते कि जिसके होनेपर ज्ञान भी सम्यक् हो गया वह परिणति है सम्यक्त्व। इस सम्यक्त्वका इतना बड़ा उदर है कि इसीमें चारित्रका भी अन्तर्भाव कर दिया जाता। सिद्धमें चारित्रगुण अलगसे नहीं बताया गया। सारा परिणमन सम्यक् हो रहा है। तो सम्यक्पना होकर भी कुछ चारित्रमोहका उदय होनेपर कहीं उस सम्यक्त्वका बिगाड़ नहीं होता, इसलिए वहाँ दो भेद हो गए हैं। अभेददृष्टिसे तो सारा सम्यक्पना है। आत्माकी सही अवस्था हो जाय वह सब सम्यक्त्व है।

दर्शनमोहोदयसे सम्यक्त्व गुणकी मिथ्यास्वादुरूपता—ऐसा कोई निर्विकल्प गुण है सम्यक्त्व जिसको वचनों द्वारा नहीं कह सकते, लेकिन हो क्या रहा है अब कि दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होनेसे इसका मिथ्या स्वादरूप परिणमन हो रहा है। यहाँ सम्यक्त्वको गुण बताया है, इस सम्यक्त्वगुणकी दो पर्यायें होती हैं—मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। इसमें कोई भ्रममें न पड़े, तो यों कह लो कि श्रद्धा नामका गुण है और उसकी दो पर्यायें हैं—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, किन्तु प्राचीन पद्धति यह है कि सम्यक्त्वको गुण कहा और उसकी दो पर्यायें हुईं, जो अनुकूल शुद्ध स्वच्छ विशुद्ध परिणति हैं वह सम्यक्त्व है और जो विपरीत परिणति है वह है मिथ्यात्व। जैसे आनन्दगुणकी तीन परिणतियाँ होती हैं। आनन्दगुण तो शाश्वत है जिसकी परिणतियाँ बता रहे हैं आनन्द, सुख और दुःख—ये तीन प्रकारकी परिणतियाँ हैं। तो स्वाभाविक परिणमन और गुण एक समानताको प्राप्त हो जाते हैं, ठीक उसके अनुकूल ही विकास हुआ है। तो वही नाम गुणका भी रख दिया, वही नाम शुद्ध विकासका भी रख दिया, पर समझने वाले समझ ही जायेंगे कि जिस समय उसे गुण रूपसे विवक्षित किया तो समझना चाहिए कि वह शाश्वत है, अविनाशी है, शक्तिरूप है, और जिस समय पर्यायरूपसे कहा गया वह शुद्ध है, पर प्रतिक्षण उत्पाद व्यय वाला रहता है याने उसमें भी प्रतिक्षण उत्पादव्यय है, होता है समान परिणमन। तो उस सम्यक्त्व गुणका दर्शनमोहनीयके उदयसे अनादिकालसे मिथ्या स्वाद आ रहा है। सम्यक्त्व क्या है ? बिल्कुल विलक्षण चीज,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अर्थात् जहाँ उन्मुख हो रहा था उसकी ओरसे इसका अपरिचय हो जाय और जिसकी पहिचान ही न थी, समझ ही न थी उसकी ओर इसका उपयोग हो जाय, याने पलड़ा बदल गया। अब उसकी बिल्कुल बात बदल गई है। अनादिसंसारमें भ्रमण करने वाले मिथ्यादृष्टियोंकी वृत्तिसे सम्यग्दृष्टिकी वृत्ति अलौकिक है और इसी बलपर साधु संत जनोंकी वृत्ति अलौकिक कही गई है। देखो—अन्य लोग क्या करते हैं और यह ज्ञानी पुरुष क्या करता है ? इसकी अलौकिक वृत्ति है। ये लौकिक जन तो यहाँकी सम्पदाओंमें, समागमोंमें व्यासक्त रहते हैं, पर यह ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवके लिए ही लालायित रहा करता है। वह तो चाहता है कि मेरा स्वरूप इस मुझ ज्ञानस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित हो जाय, इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ न चाहिए। बाह्य पदार्थोंकी ओर अपनी लीनता बनना यह तो एक अज्ञानता भरी बात है।

दैवाकालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥३७८॥

कालादिलब्धि होनेपर, संसारनैकट्य होनेपर भव्यत्वभावविपाकसे सम्यक्त्वका लाभ— दैवयोगसे काल आदिक लब्धियोंके प्राप्त होनेपर, संसारसमुद्र निकट होने पर भव्यभावका विपाक होता है तो यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। भव्यभावका विपाक, पूरा विपाक कहाँ होता ? सिद्ध अवस्थामें। वहाँ भव्यत्व रहता ही नहीं है। वहाँ विपाक पूर्ण हो चुका, उसके बादकी वह अवस्था है। पर भव्यक्त्व भावमें जो बात आनेकी थी वह आगे आये इसको कहते है विपाक याने जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणमनकी योग्यता है इस ही को भव्यत्व कहते हैं। अब तो बात वह सामने है। सम्यक्त्व हो, यही तो भव्यत्वका विपाक प्रारम्भ हुआ। तो ऐसा कैसे कब किसके होता है ? इसका संकेत इस श्लोकमें है। उपादान दृष्टिसे बात यह है कि जहाँ ऐसी परिणति आनेको हो, हो गयी। निमित्तदृष्टिसे बात यह है कि जहाँ दर्शन मोहका अनुदय हो, क्षय क्षयोपशम हो वहाँ यह बात आ जाती है और बाह्यदृष्टिसे यह बात हो कि जब काललब्धि प्राप्त होती है और अन्य लब्धियाँ योग्य क्षेत्र काल भाव जब प्राप्त होते हैं तब भव्यत्वगुणका विपाक होता है। सम्यक्त्व गुणकी निष्पत्ति में ५ लब्धियाँ होती हैं— (१) क्षयोपशमलब्धि, (२) विशुद्धलब्धि, (३) देशनालब्धि, (४) प्रायोग्यलब्धि और (५) करणलब्धि। क्षयोपशमलब्धि तो कर्मका योग्य क्षयोपशम हो सो वह क्षयोपशमलब्धि है। अब जरा विचारो कि हम आपको क्षयोपशमलब्धि पड़ी है कि नहीं ? है, क्योंकि इतना ज्ञान करते हैं, विवेक करते हैं। क्षयोपशम लब्धिके होने पर आत्मामें उस योग्य क्षयोपशम होने पर जो विशुद्धि होती है वह विशुद्ध लब्धि है, ऐसी विशुद्धि भी प्राप्त है याने उसकी लब्धि प्राप्त है और किसी ज्ञानी साधुजनोंके उपदेश प्राप्त हों तो उसे कहते हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देशनालब्धि। साक्षात् अथवा परम्परा ग्रन्थोंसे हर प्रकारसे इस देशनालब्धिकी प्राप्ति हो रही है। चौथी लब्धिका नाम है प्रायोग्यलब्धि। यहाँ अब मन बहलावाकी बात नहीं चल सकती। यहाँ तो बिल्कुल नकद दाम जैसी बात है। जहाँ कर्मोंकी स्थिति घट कर अन्त: कोड़ाकोड़ी मात्र रह जाय उसे कहते हैं प्रायोग्यलब्धि। इतने तक तो भव्य अभव्य सभी जीवोंकी बात बन सकती है। पर ५ वीं करणलब्धि उसके ही होती है जिसके सम्यक्त्व होनेको है।

करणलब्धि पानेपर सम्यक्त्वलाभकी अनिवार्यता—करणलब्धिके मायने हैं ऊँचे परिणाम। आत्माकी ओर उन्मुख होने वाले उच्च परिणाम। उन उच्च परिणामोंमें अनेक डिग्री हैं सो उन डिग्रियोंमें जहाँ तक विभिन्न समयवर्ती साधकोंमें भी विशुद्धि समान डिग्रीकी संभव हो सके उसे अधःकरण कहते हैं अर्थात् जैसे कोई जीव अध:करणमें पहिले करणमें चढ़े हुए चार समय हो गए और किसीके इसी समय अधःकरण हुआ तो जितने चार समयका परिश्रम करने वाले विशुद्धि पा चुके हैं उतना यह प्रथम समय वाला भी पा सकता है। ऐसे अधःकरण (परिणाम) पड़े हुए हैं उसे कहते हैं अध:करणलब्धि, किन्तु ये इससे ऊँचे करणमें जब पहुंचते हैं तब अपूर्वकरण लब्धिमें एक समयमें रहने वाले साधुवोंके बीच-बीच करणोंकी (परिणामोंकी) समता विषमता हो सकती है, पर दूसरे समयमें जो पहुंच गया है उसके बराबर पहिले समयसे अधिक विशुद्ध परिणाम होगा। अपूर्वकरणसे अनिवृत्तिकरणमें अधिक उच्चता है कि जितना समय अनवृत्तिकरणमें किसी साधकको लगा है उतने समयमें जितने साधक हों अथवा ये सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले सम्यक्त्वी जन हों, तो इनका परिणाम समान होता है। इसका अर्थ भी इसी तरह है। जहाँ कोई भेद नहीं है, विषमता नहीं है, एक ही बात है उसे कहते हैं अनिवृत्तिकरण। जहाँ निवृत्ति है, विषमता है उसे कहते हैं निवृत्तिकरण याने अपूर्वकरण और जहाँ ऊपरके परिणाम अधः रह जायें उसे कहते हैं अध:करण। इस तरह इन तीन लब्धियोंके प्राप्त होनेपर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। तो ऐसा यह जीव कैसा है ? वहाँ उसका भवार्णव निकट आ गया, संसारतटपर पहुंचने ही वाला है, पार होने ही वाला है। अब उसका थोड़ा ही समय शेष रह गया। ऐसा जीव सम्यक्त्वमें बसा हुआ है, सो यहाँ भव्यत्वगुणका विपाक बताया गया है। जिस समय आत्मामें मिथ्यात्वकर्मका उदय रहता है उस समय भव्यत्वगुणकी अशुद्ध अवस्था होती है। देखिये—आत्मामें गुण हैं और उन गुणोंका विपरीत परिणमन चले तो समझिये कि वहाँ अशुद्ध अवस्था हो गयी और अगर स्वभावपरिणमन हो तो वह शुद्ध अवस्था हो गयी। तो यों जब सम्यक्त्वकी अवस्था होती है तो वहाँ भव्यत्व गुणपरिपक्व हो जाता है। जैसे किसीको कहते हैं कि यह चौथी क्लासमें पढ़ने योग्य है तो वह तृतीय कक्षामें परिपक्व है और चौथी कक्षामें आ गया है तो चौथी क्लासमें आने योग्य है, इस बातका विपाक बन गया। अब तृतीय कक्षा उत्तीर्ण कर ले तब कहा जायगा कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह चौथी क्लासके योग्य है और अगर चौथी क्लास उत्तीर्ण हो चुका तो उसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह चौथी क्लासके योग्य है। ठीक ऐसे ही जो सिद्ध भव्यत्वसे उत्तीर्ण हो गए उन्हें यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें भव्यत्व भाव है। सिद्धमें भव्यत्व नहीं रहा।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥३७९॥

करणलब्धि होनेपर अनायास दर्शनमोहोपशम और औपशमिक सम्यक्त्वका लाभ—जब अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण—ये तीन लब्धियां हो गयीं तब अन्तर्मुहूर्तमें ही बिना किसी प्रयत्नके दर्शनमोहका उपशम हो जाता है। सर्वप्रथम इस जीवको उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्षयोपशम कहाँसे आयगा? जब सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्ध ही नहीं हुआ था, अतएव सत्त्वमें ही नहीं हैं वे प्रकृति तो उनका क्षयोपशम और क्षय कैसे बनेगा? मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ५ प्रकृतियोंकी सत्ता वाला भव्य जीव तो उपशम सम्यक्त्व ही करता है, तो पहिले प्रथमोपशम सम्यक्त्व हुआ। उपशम सम्यक्त्वके लिये जब तीनों लब्धियाँ प्राप्त हुई तब उसको अब क्या प्रयत्न करना है, अनायास ही सम्यक्त्वलाभ हो जाता है। इस अवस्थामें गुणश्रेणी बराबर चल रही है अर्थात् ऐसा निर्मल परिणाम है उस समय सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें इतने विलक्षण परिणाम हैं कि जितनी प्रथम समयमें निर्जरा की है उससे असंख्यातगुणी अगले समयमें, उससे असंख्यात गुणी उससे अगले समयमें, यों असंख्यात असंख्यातगुणी निर्जरा प्रत्येक समयमें चलती रहती है। यह गुणश्रेणी इस ढंगकी सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके समय रहती है, यह उस समयकी विशेषता है। ऐसी गुणश्रेणी सम्यक्त्वमें ही नहीं आयी, किन्तु चारित्रग्रहण करनेमें है, संयमासंयम ग्रहण करनेमें है, अनन्तानुबंधीके विसंयोजनमें है इत्यादि। कोई विशेष विकासकी बात आये तो ऐसी गुणश्रेणी निर्जरा होती है, तब ही लोग यह अनुभव करते हैं कि जितना हममें व्रत लेनेके समयमें निर्मलता आयी वैसे अच्छे भाव आज नहीं आ रहे हैं। अरे यह तो केवल सोचनेकी बात है। अब तो यहाँ योग्यता ठीक बन गई है। योग्यता तो है, मगर उस समय था चढ़ता हुआ परिणाम। विशुद्धिकी चढ़ती हुई स्थितिमें यह करणलब्धि होती है और उनमें ऐसी गुणश्रेणी निर्जरा होती है। तो जब यह जीव मिथ्यात्व का उपशम कर लेता है तो उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा।
पुंसोवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥३८०॥

दर्शनमोहके उपशमसे उपशमसम्यक्त्वपरिणतिकी उपलब्धि—दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है। १४८ प्रकारकी कर्म प्रकृतियोंमें मिथ्यात्व, सम्यक्

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति—ये तीन दर्शनमोहनीय कहलाते हैं। दर्शनमोहनीय इस कारण नाम है कि ये सम्यग्दर्शनको विनष्ट करते, दूषित करते। इन तीन प्रकृतियोंमें से बँधने वाली प्रकृति केवल एक है—मिथ्यात्व। सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इनका कभी बन्ध नहीं होता, लेकिन उदयमें ये कैसे आ जाते हैं ? जिन प्रकृतियोंका सत्त्व नहीं है उनका उदय कैसे हो सकता है ? तो जब ये उदयमें आते हैं और इन प्रकृतियोंका काम भी निराला है, सम्यक् मिथ्यात्वके उदयसे मिश्र परिणाम होता है कि न वह केवल सम्यक्त्वरूप है, न केवल मिथ्यात्वरूप है और सम्यक् प्रकृतिके उदयसे चल, मलिन, अगाढ़ दोष होता है। जब इनका कार्य विलक्षण है तो ये उदयमें आये हों तभी तो यह कार्य होगा। उदयमें आनेके लिए सत्त्व होना चाहिए और सत्त्व पानेके लिए बन्ध होना चाहिए। फिर इनका उदय कैसे आया ? जब वह बन्धन नहीं है तो यहाँ इतनी बात समझनी चाहिए कि सत्त्व होनेके लिए बन्ध आवश्यक नहीं है। यद्यपि इन चार प्रकृतियोंको छोड़कर १४६ प्रकृतियाँ बंधकर ही सत्वमें आती हैं, लेकिन ये दो प्रकृतियाँ बिना बंधे हुए ही सत्त्वमें आती हैं और इनके सत्त्वमें आने का कारण यह है कि जब किसी जीवको मिथ्यात्वके उपशम होने पर जिसके साथ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिकका उपशम चलता है तो मिथ्यात्वका उपशम होने पर उसे उपशम सम्यक्त्व होता है। उस समय मिथ्यात्वके तीन हिस्से हो जाते हैं—अर्थात् मिथ्यात्व ज्योंका त्यों बना रहता है और उनमें से अनेक वर्गणायें सम्यग्मिथ्यात्वरूप होती हैं और कुछ वर्गणायें सम्यक्त्वरूप होती हैं। यहाँ यह बात जाननी चाहिए कि जो टुकड़े होकर सम्यक्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति बने वे मिथ्यात्वसे कम अनुभाग वाले हैं। इनका रस मिथ्यात्वसे कम है। इस सम्यग्दर्शनके परिणामरूपी चक्कीके चलनेपर हल्के हिस्से हो जाने तो सम्भव हैं, बड़े नहीं हो सकते, तो मिथ्यात्वके एक विशाल शक्ति वाले थे उसकी ही शक्ति कम हो होकर सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति रूप हो गए। कुछ वर्गणायें इस तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्वके होने पर मिथ्यात्वके द्रव्यसे सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वप्रकृतिरूप हो गए, तब इन दो प्रकृतियोंकी सत्ता हो गई। यही जीव कुछ समय बाद सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाय और बहुत काल तक भ्रष्ट रहे, जैसे कि करणानुयोगमें बताया है कि पल्यके असंख्यातवें काल पश्चात् ही उन दो प्रकृतियोंकी उद्वेलना हो जाती है तो वे दो प्रकृतियाँ जो पहिले सम्यक्त्वरूप परिणामके द्वारा सम्यक्त्व रूप और मिथ्यात्वरूप हो गई थीं वे क्रमशः सम्यक् प्रकृति बदल कर सम्यक्मिथ्यात्वरूप हो जायेंगी और सम्यक् मिथ्यात्व बदलकर मिथ्यात्व रूप हो जायेंगी। अब इसकी स्थितियाँ अनादि मिथ्यादृष्टि जीवोंकी तरह सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंमें ५ की सत्ता हो गयी। अब यह जीव उपशम सम्यक्त्व करेगा तो उसका भी उपशम सम्यक्त्व ५ प्रकृतियोंके उपशमसे होगा। इस तरह जिनके सम्यक्त्वघातक ५ प्रकृतियों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

की सत्ता है उनके तो इन पाँचोंके उपशमसे होता है और जिनके ७ प्रकृतियोंकी सत्ता है उनके सातोंके उपशमसे होता है। तो यों दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्वपरिणतिकी अपूर्वता व विलक्षणता—जीवके यह जो सम्यक्त्वरूप अवस्था आयी सो वह आत्माकी एक अवस्था विशेष है, विलक्षण है। यों समझिये कि आत्माका नया जीवन है। पहिला जीवन आत्माका था दुःखरूप और अब यह जीवन आया है प्रसन्नताका, विकास करनेका, क्योंकि जहाँ कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धिका भार हटा, परसे मेरा कुछ सम्बन्ध है, मैं परमें कुछ सुधार अथवा बिगाड़ कर देता हूं, इस प्रकारके विपरीत अभिप्रायों का भार लदा था उससे यह बहुत दुःखी था। वह भार खतम हो जाता है, अब रह गया उसका परिस्थितिसमुद्भव कुछ भार, वह भी समाप्त हो जायगा। तो सम्यग्दर्शन इस आत्मा का विलक्षण अवस्थाविशेष है। जैसे यहाँ कहते हैं कि साधु हो जाने पर वह द्विज कहलाता है। द्विज नाम यहाँ लोगोंने ब्राह्मणका रखा है, पर द्विजका वास्तविक अर्थ है—जो दूसरी बार जन्म ले। एक पुरुषने साधु अवस्थासे पहिलेका जीवन और तरहका बिताया था और अब उसका जीवन बिल्कुल उससे उल्टा चल रहा है, शुद्ध चल रहा है तो ऐसे जीवनको कहेंगे कि इसका दूसरा जन्म है। जैसे वही पुरुष जिसके पास स्त्री आकर कुछ बात कहती थी तो वह स्त्रीको जवाब भी देता था, कुछ बात भी कहता था, कुछ सलाह भी मानता था और पुत्रादिकसे रागकी वार्ता भी करता था, लेकिन अब वही स्त्री आकर कुछ कहे और वह पुरुष कुछ रागकी बात बोले ही नहीं तो वह तो यही कहेगी कि यह तो अब वह नहीं रहा जो पहिले था, इसका तो जीवन ही बदल गया। तो जिसका जीवन बदल जाय जसे द्विज कहते हैं। तो यह तो एक जीवकी विशेष साधुतावाली शुद्ध अवस्थाकी बात है, पर आत्माके जीवन की अपेक्षासे देखा जाय तो वास्तविक द्विजता तो सम्यक्त्व होने पर प्रकट हुई है। ऐसे ही सम्यग्दर्शन जो पुरुषकी एक अवस्था विशेष है वह आत्माका निर्विकल्प गुण है। इस बातको आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
सत्तारूपं च परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥३८१॥

सम्यक्त्वकी निर्विकल्पता—सामान्यरूपसे अथवा विशेषरूपसे सम्यक्त्व निर्विकल्प है। सम्यक्त्वको सामान्यतया भी सोचें तो निर्विकल्प विदित होता ही है. परन्तु उसके कुछ विशेष स्वरूपपर भी दृष्टि करें कि उसमें व्यञ्जन क्या हुआ ? व्यक्ति क्या हुई ? ऐसे उस प्रकाशकी दृष्टिसे भी सोचो—वहाँ भी वह निर्विकल्प है और वह तो उसके सत्त्वरूप है, आत्माके प्रदेशमें परिणमा है, परिणमन कर रहा है। अथवा उस गुणके होनेपर सभी गुणों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में एक विलक्षण परिणमन आ जाता है। तो यह सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है। इसके बारेमें आगे जब सम्यग्दृष्टि जीवके लक्षण बताये जायेंगे तो उन लक्षणोंमें भी यह ध्वनित होगा कि यह सम्यक्त्व भाव निर्विकल्प है। वह वचनके अगोचर है। उसमें अब भेद डालकर, कुछ क्रिया डालकर उसे बताना अशक्य है। ऐसा यह सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है। सामान्य दृष्टिसे देखें तब भी और उसके व्यञ्जन लक्षण आदिक अनेक दृष्टियोंसे देखें तब भी वह निर्विकल्प है। भले ही अन्य गुणोंकी तारीफके द्वारा उस सम्यक्त्वकी तारीफ बतायी जायगी। जैसे किसी कमरेमें बिजली जल रही हो और खिड़कीमें से कोई चीज दिख रही है तो उस चीजके दिखनेसे बिजली जलनेका अनुमान कर लेते हैं, लेकिन बिजली जल रही है उसे वह कहा जान पा रहा है? तो इस लक्षणसे उसके अभिनिबोध हो जाता है, पर वस्तुतः वह सम्यक्त्व गुण निर्विकल्प है।

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥३८२॥

दृष्टान्त द्वारा सम्तक्त्वाभ्युदयमें आत्मप्रसादका कथन—सम्यक्त्व आत्मामें किस प्रकार निर्विकल्पता पैदा करता है? इस विषयमें यहाँ सूर्यका उल्लेख किया जा रहा है। वैसे सभी लोग जानते हैं कि जब सूर्यका उदय होता है तो सर्व दिशायें प्रसन्न हो जाती हैं, निर्मल हो जाती हैं, वहाँ अन्धकार नष्ट हो जाता है। तो सब दिशाओंमें जो एक निर्मलता आयी वह निर्मलता यह व्यक्त करती है कि हाँ सूर्यप्रकाश है, दिन है, दिनका वह ज्ञान कराता है। तो जैसे सूर्यका उदय होनेपर सूर्यकी किरणोंके बलसे अन्धकारका नाश हो जाता है और उस समय दशों दिशायें प्रसन्न रहती हैं, ऐसे ही सम्यग्दर्शनकी निर्मलताकी बात अगले श्लोकमें बतावेंगे। दृष्टान्तमें यहाँ इस तत्त्वपर अधिक दृष्टि दी है कि दिशायें निर्मल हो जाती हैं। उसकी निर्मलता इस बातको ध्वनित करती है कि दिन है, प्रकाश है, अंधकारका नाश है। अंधकारके होते संते दिशाओंमें यह निर्मलता नहीं आती। जैसे सूर्यके निकलते ही समस्त अंधकार विलयको प्राप्त हो जाता है, दशों दिशायें निर्मलताको प्राप्त हो जाती हैं, इसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यके निकलनेसे अज्ञान अंधकारका विलय हो जाता है, ज्ञानप्रकाशका अभ्युदय हो जाता है। इसी बातका दिग्दर्शन अब इस श्लोकमें देखिये—

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥३८३॥

दर्शनमोहका उपशम होनेपर सर्वप्रदेशोंमें शुद्धता व प्रसन्नता—उक्त दृष्टान्तकी भाँति यहाँ दृष्टान्तमें कह रहे हैं कि दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम होनेपर विलक्षण विकास सम्यग्दृष्टिका हो जाता है—क्या, कि जब सम्यक्त्वका प्रकाश होता है, आत्मामें सम्यक्त्वगुणका उदय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होता है तब आत्मा निर्मलताको धारण करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होता है। जब-जब भी कोई अप्रसन्नता हो, अपने आपमें दुःखकी अनुभूति हो, कोई चित्तमें कष्टकी बात समझी जा रही हो तो वहाँ समझना चाहिए कि इस समय सम्यक्त्वदेवकी कृपा नहीं चल रही है। सम्यक्त्वदेवकी कृपा बन जाय, उसकी छत्रछायामें निवास रहे और वहाँ फिर आकुलता रहे, विह्वलता रहे, यह बात असम्भव है। भले ही कुछ चिन्ता करनेकी बात सामने आ जाती है, मगर अन्तरङ्गमें यह निर्णय पड़ा हुआ है कि बाहरमें ऐसा हो तो क्या, न हो तो क्या, यह मैं आत्मा तो सबसे अछूता ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, इस प्रकारका उसके भान है तो फिर उसकी आकुलताओंमें भी बड़ा अन्तर है। एक अज्ञानी जीव बाहरी बातोंके अनुकूल न होने पर भी जैसे विह्वल हो जाता है, उसे कुछ होश-हवास ही नहीं रहता। वह अपना विनाश मानता है। ऐसी विह्वलता सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होती। कोई सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, घरमें उसके स्त्री पुत्र माता पिता आदिक सब हैं, सो उनके वियोगके विछोहके प्रसंग तो उसके सामने आयेंगे ही, किसी न किसी इष्टका वियोग होगा ही तो ऐसी स्थितिमें क्या वह कुछ विह्वलसा न होगा ? होगा, पर उसकी वह विह्वलता ऊपर-ऊपर नाचती रहती है। भीतरमें उसके निराकुल ज्ञानमात्र, सर्वविविक्त अपने आपके अन्तस्तत्वका भान है, जिसके प्रतापसे उसके अन्तरङ्गमें मलीमसता नहीं है। ऐसी बातें कितनी ही ऊपरसे हो जाती हैं फिर भी इसके अपने अन्तः-स्वरूपका भान रहता है। यह कैसे माना जाय ? भले ही उसका पता नहीं पड़ रहा है। जैसे मिट्टीके बड़े बर्तनमें जिसे गुरसी कहा करते हैं उसमें भीतर तो आगकी कणिका पड़ी है और उसपर राख लदी हुई है तो भले ही उस राखकी वजहसे वह अग्निकणिका न मालूम पड़े लेकिन वह अग्निकणिका तो वहां है ही। वह अग्निकणिका अन्तः प्रकाशमान तो है ही, ठीक इसी प्रकार यहाँ बहुत-सी घटनाओं और विकल्पोंके कारण इस ज्ञानी पुरुषका अन्तस्तत्व का भान दब जाता है। तो वहाँ ऐसा ही लगता कि मेरा या इसका कुछ भी विकास यहाँ नहीं है। तो कैसे यह कहा जाय कि अन्तः कुछ भी नहीं है ? तो यों इस सम्यग्दृष्टि आत्मा पर गृहस्थावस्थामें या अन्य किसी प्रमत्त अवस्थामें बाहरी कुछ बात आवरणकी छा गई, उसका भान दूसरेको नहीं दिखता और यहाँ तक कि खुदके भी उपयोगमें नहीं आता, इतना होने पर भी उस सम्यग्दृष्टिके अन्तःमें अन्तस्तत्त्वका भान बना हुआ है, इस बातको तो भुक्त-भोगी जानता है। जो उसमें परिणत हुये हैं और जिनपर वह बात बीती है वे ही समझ सकते हैं इस सम्यक्त्वकी महिमाको। तो जब वह सारा आवरण खतम हो जाता है और सम्यक्त्वका वहाँ उदय होता है तो वह सब अज्ञान अंधकार दूर हो गया। वहाँ जाज्वल्यमान ज्ञानप्रकाश रहता है, उसके अन्तः प्रसन्नता रहती है।

सम्यक्त्वका अर्जन होनेपर असुविधा व संकटोंकी समाप्ति—लोग चाहते हैं' कि मैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इतनी कमाई कर लूं कि फिर मुझे किसी प्रकारकी तकलीफ न रहे, कोई असुविधा न रहे। जैसे—मैं ऐसा मकान बनवालूं ताकि फिर मुझे कोई असुविधा न रहे अथवा कोई दुकान या कोई कम्पनी या कोई कारखाना इस ढंगका खोल लूं कि जिससे फिर कोई असुविधा न रहे। अरे इन कामोंके कर लेनेसे असुविधायें दूर न होंगी। असुविधायें तो दूर होंगी भेदविज्ञान और सम्यक्त्वका काम करनेसे। इससे फिर कभी भी आगे असुविधायें न रहेंगी। ये असुविधायें क्या हैं? जहाँ कोई मनमें पापकी बात सम्भव है वहाँ असुविधायें हैं। जहाँ पापोंसे हटा हुआ शुद्ध चित्त है वहाँ काहेकी असुविधा। बाहरकी अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थितियाँ ये कोई असुविधायें नहीं हैं। पहिले प्रतिकूल स्थितियोंकी ही बात देख लो।

सुकुमाल, सुकौशल जैसे महापुरुषोंपर कैसे-कैसे भयंकर उपसर्ग आये? शेरनी भखे, मांस लोथे, पंजोंसे मार-मारकर शरीरका विदारण करे, ये कोई उनपर कम प्रतिकूल स्थितियाँ थीं क्या? लेकिन ऐसे भयंकर उपसर्गके समय भी उन सुकौशलकी अन्त: स्थिति क्या थी, उसको तो उनका ही आत्मा जानता होगा? लेकिन इतनी कठिन प्रतिकूल स्थितियोंमें भी वे रंच भी अपने आत्मस्वरूपसे चिगे नहीं, तो फिर बताइये उस समय उन्हें कोई असुविधा थी क्या? रंच भी असुविधा न थी। धन्य है वह आत्माका शुद्ध स्वरूप कि जिसके आग्रहकी महिमाको तो देखिये, जिसने अपने अमूर्त ज्ञानमात्र अन्तःस्वरूपमें ही आग्रह किया है। यही मात्र मैं हूं, इसके अतिरिक्त सब बाह्य है। बाह्यपदार्थ चाहे छिदें-भिदें, किसी भी अवस्थाको प्राप्त हों, वह मेरा परिणमन नहीं, उनसे मुझमें कुछ आता नहीं। ऐसी जिनकी एक शुद्ध आत्मतत्त्वपर दृष्टि दृढ़तर बन गई है उनके लिए असुविधायें क्या? यहाँ तो लोग जरा-जरासी बातमें कह उठते हैं कि हमें तो बड़ी असुविधायें हैं।····अरे क्या असुविधायें हैं?···मेरे पास आरामके साधन नहीं हैं?···अरे यह भी कोई असुविधा वाली बात है क्या? उन सुकुमाल सुकौशल जैसी उपसर्गकी हालत तो कहीं हम आपपर नहीं आ रही है? अभी कोई यहाँसे बाजार जा रहा हो और बारिश चालू हो जाय तो छातेसे या बिना छातेके बाजार हो आयेंगे तब तो कहेंगे कि मुझे कोई असुविधा नहीं, पर कहीं जिस आरामके कमरेमें आरामसे बैठे हों उसमें किसी कोनेमें एक-आध बूंद टपकने लगे तो झट घबड़ाकर कह उठते हैं कि हमें बड़ी असुविधा है?····अरे वहाँ क्या असुविधा है? वह तो एक आपकी कल्पनाकी बात है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जिसे अपने अन्त:स्वरूपका निर्णय हुआ है उसे कहीं कोई असुविधा नहीं है। ये असुविधायें तो वहाँ ही रहा करती हैं जहाँ कुछ अपने आत्मस्वभावके विपरीत अपना आशय बनाया गया हो। जहाँ पापभरा अभिप्राय होता है वहाँ सारी असुविधायें नाचने लगती हैं, और जहाँ पाप शान्त हो जाते हैं उसको कहीं कोई असुविधा नहीं। तो इस पापसे, इस मिथ्यात्वसे बढ़कर पाप क्या है? मिथ्यात्वके उदयमें सब असुविधायें हैं। चाहे कोई करोड़-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पति हो जाय, चाहे कोई कितना ही धनिक बन जाय, पर जब तक उसके मोह है, मिथ्यात्व बसा हुआ है तब तक उसके लिए सब जगह असुविधायें ही हैं। और जिसमें मिथ्यात्वका उपशम हो गया है उसको ज्ञानप्रकाश ऐसा मिला है कि जिस ज्ञानबलके द्वारा उसके लिए कहीं कोई असुविधा नहीं मिलती। मेरेमें विकल्प आयें, बस यही मेरे लिए असुविधा है और मैं अपने इस निर्विकल्प स्वरूपका दर्शन करूँ तो बस मेरे इस कार्यमें मेरे लिए कहीं कोई असुविधा नहीं।

यथा वा मद्यधत्तूपाकस्यास्तंग तस्य वै।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥३८४॥

दर्शनमोहके उदय व अनुदयमें जीवके मूर्च्छित व अमूर्च्छित रहनेके सम्बन्धमें दृष्टान्त— जैसे किसी पुरुषने मदिरा या धतूरा पी लिया है तो जब उसका विपाक आता है अर्थात् उसके विषैले अनुभागका विपाक आता है तो उस समय पुरुष मूर्छित हो जाता है और जब उसका नशा उतर जाता है, उसकी शक्ति अस्तंगत हो जाती है तो वही पुरुष सुधमें (होशमें) आ जाता है। तो यहाँ इस दृष्टान्तमें यह बात जानना है कि कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि मद्यपान अथवा धतूरेके भक्षणसे ज्ञान भी मूर्छित हो जाता है ? कहाँ तो ज्ञान अमूर्तिक है और वह मद्यपानसे मूर्छित हो गया। यहाँ यह दृष्टान्त बताया जा रहा है कि जैसे धतूरा खानेसे अथवा मद्यपान करनेसे जब उसका अनुभाग विपाकमें आता है तो उस समय मनुष्य मूर्छित हो जाता है और जब वह विपाक समाप्त हो जाता है तब वह मूर्छारहित हो जाता है तो यहाँ मद्यपान अथवा धतूरेके भक्षणने, उसके संयोगने ज्ञानको मूर्छित नहीं किया, पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उसका निमित्त पाकर जो ज्ञानके साधन हैं इन्द्रिय और मन उनमें बिगाड़ होता है, और इन्द्रिय, मनमें बिगाड़ होनेके कारण फिर ज्ञानमें बेहोशी आती है। यद्यपि दृष्टान्त ऐसे ही सीधे दिए जाते हैं कि देखो धतूरेका भक्षण किया तो उससे ज्ञान बेहोश हो गया। हो तो गया बेहोश और उसका वह एक कारण भी हुआ, परंतु किस विधिसे ज्ञान बेहोश हुआ कि उसका निमित्त पाकर यहाँ इन्द्रियमें अन्तःकरणमें असर हुआ और उस असरसे यह ज्ञान मूर्छित हुआ, और जब उस धतूरेका विष असंगत हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, जब वह निवृत्त हो जाता है तो वह पुरुष मूर्छारहित हो जाता है। जैसे दृष्टान्तमें ये दो दिशायें बतायी गई हैं उसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्तमें भी सुनो—

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥३८५॥

दर्शनमोहके उदयसे मूर्च्छा, वैचित्य एवं भ्रम और दर्शनमोहके प्रशान्त होनेपर मूर्च्छा नाश हो जानेसे जीवकी निरामयता—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके मूर्छा आती है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वहाँ वैचित्य हो जाता है अर्थात् उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता और हर जगह भ्रम मानता रहता है। दर्शनमोहनीय प्रकृति ही वह कहलाती है कि जिसके विपाकमें दृष्टिमें व्यामोह हो जाय। जैसे वस्तु कुछ है और दिखे कुछ। पीलिया रोग वालेको जैसे प्रत्येक पदार्थ पीला ही पीला दिखा करता है, ऐसे ही दर्शनमोहके उदय वालेको प्रत्येक पदार्थ इष्ट अनिष्ट आदिक रूपसे ही निरखनेमें आता है तो यों दर्शनमोहनीयके उदय होनेसे मूर्छा हुई; भ्रम हुआ, वैचित्य हुआ, और जब दर्शनमोहनीय नष्ट हो गया तो उसकी मूर्छा नष्ट हो गयी और यह जीव निरामय हो जाता है। जीवमें रोग क्या लगा? रोग विकल्प, रागद्वेष, यह ही धुन लगी हुई है और इस रोगसे रुग्ण होता हुआ वास्तवमें जीव रागी है और जब यह रोग समाप्त हो गया तो निरामय स्वरूप हो जाता है। तो दर्शनमोह एक निमित्तभूत प्रकृति है और उसके उपशम में होने वाली विकासविशेषता यहाँ बतायी जा रही है।

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्यया: ॥३८६॥

तत्त्वार्थश्रद्धान आदिकमें सम्यग्दृगात्माके बाह्य लक्षणत्वका निर्देश—इस प्रसंगमें सर्व प्रथम यह संकल्प किया था कि सम्यग्दर्शनके कुछ लक्षण बतायेंगे तो उनके बतानेसे पहिले चूँकि सम्यग्दर्शन एक अलौकिक तत्त्व है और उसके लक्षण यों सीधे शब्दोंसे बताये नहीं जा सकते हैं तो उसका वर्णन कुछ विस्तारपूर्वक करना होता है। तब सम्यग्दर्शनके लक्षणकी सही बात समझमें आती है। जो सम्यक्त्व इस संसार-सागरसे पार कर दे उसका लक्षण यदि यों ही सभीको सीधे सुगम समझमें आने लगे तो कठिनाई क्या रही? तो जैसे सम्यक्त्व एक निर्विकल्प गुण है, कल्याणकारी धर्म है तो उसका लक्षण जब चित्त विशुद्ध हो और उस रूप कुछ अपना प्रयोग बनता हो तब ध्यान आयगा और सीधे लक्षण तो सम्यक्त्वके मिलेंगे नहीं, किन्तु वे सब ज्ञान द्वारा ज्ञानकी विशेषताओंसे समझे जायेंगे। तो ऐसे सम्यक्त्वके लक्षण बतानेसे पहिले सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारण बताये हैं। अब लक्षणपर विचार कर रहे हैं कि सम्यग्दर्शनके लक्षण श्रद्धान् आदिक गुण बताये गए, किन्तु वे सम्यग्दृष्टिके बाह्य लक्षण हैं। श्रद्धान ही स्वयं सम्यक्त्व नहीं है, ये तो ज्ञानकी पर्यायें हैं। जीवादिक पदार्थ जिस तरहसे अवस्थित हैं उस प्रकारसे श्रद्धान करना। इस श्रद्धानका क्या अर्थ? उसी तरहसे भली भाँति दृढ़तापूर्वक ज्ञान करना वही तो सम्यक्त्व बताया गया है। तो श्रद्धान भी ज्ञान की ही पर्याय है। उस सम्यक्त्वकी सही पर्याय क्या है? उसको कहने वाला कोई शब्द नहीं है और ऐसा ज्ञान मुखेन ही वर्णन क्यों किया है कि सम्यक्त्व गुणका कहनेका ज्ञानका आश्रय किए बिना कोई उपाय नहीं है। ऐसा हुआ क्यों? इसका विवेचन आगे स्वयं किया जायगा। यहां वह बतला रहे हैं कि श्रद्धान् सम्यक्त्व नहीं है और इस-इस प्रकारसे जो-जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भी सम्यक्त्वके लक्षण शब्दों द्वारा बताये गए हैं वे सीधे स्वयं सम्यक्त्व नहीं हैं। हाँ सम्यक्त्वके होने पर ऐसा हुआ करता है। यह बात तो सही है, पर यही स्वयं सम्यक्त्वका स्वरूप हो, सो बात नहीं है। वर्णन तो इसी तरह आयेंगे और ग्रन्थकार भी आगे चलकर इसी तरह वर्णन करेगा, किन्तु यहां परमार्थतः स्वरूपकी बात कही जा रही है। सूत्र जी में भी बताया है कि तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तो बताया तो अवश्य है, परन्तु वास्तवमें ज्ञान भी वही है कि जीवादिक पदार्थ जैसे हैं वैसे हों। अरे सम्यक्त्व भी यही है कि जैसा है वैसा ही श्रद्धान करे तो यह लक्षण ज्ञानरूप ही पड़ा, और भी अनेक लक्षण कहे गए हैं—देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, वह सभी ज्ञानरूप पड़ता है। वस्तुतः सम्यक्त्व कोई सीधे ऐसा लक्षण नहीं है जिससे सम्यक्त्वकी पहिचान कर ली जाय। और भी देखिये—

अपि चित्सानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥३८७॥

ज्ञानपर्ययत्व होनेसे स्वात्मानुभूतिकी भी सम्यक्त्वके प्रति बाह्य लक्षणता—आध्यात्मिक ऋषि संतोंने यह बताया है कि आत्मानुभवको सम्यक्त्व कहते हैं। ज्ञानानुभूतिका नाम सम्यक्त्व है। इससे और अन्तरङ्ग लक्षण क्या बताया जाता, लेकिन यह भी ज्ञानरूप ही पड़ रहा है। आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति, स्वानुभूति ये सब क्या हैं? ज्ञानके ही तो परिणमन हैं, क्योंकि आत्माका अनुभव करना, ज्ञान करना, प्रत्यक्ष करना ज्ञानकी पर्याय है। आत्मानुभूति का अर्थ क्या है? आत्माका सहज स्वरूप जिस प्रकार है उस प्रकारसे उसका भली-भाँति परिचय करना, जानते रहना, यही तो आत्माका अनुभव है। तो आत्मानुभव भी ज्ञानकी ही पर्याय है। तो ज्ञानरूप होनेसे यह भी सम्यक्त्वका साक्षात् लक्षण नहीं बनता है। तो इसे भी केवली भगवान बाह्य लक्षण बतलाते हैं। लक्षण तो कुछ जानने ही होंगे। किस तरह हम पहिचानें कि यह सम्यक्त्व गुण है, इस जीवके सम्यक्त्व है। तो स्वानुभूति हो, ज्ञानानुभूति हो, यह जानने वाला ज्ञान और इस ज्ञानमें जो जाना गया वह भी हो सहज ज्ञानस्वरूप, इस तरह सहज ज्ञानस्वरूपका जो सहज ज्ञान हो रहा है वह हुआ ना सम्यक्त्व। उसीको कहते हैं ज्ञानानुभूति। तो हुआ क्या वहाँ? ज्ञान ही हो रहा है। ज्ञानके द्वारा हम समझ रहे हैं तो यह भी ज्ञानकी ही पर्याय है। देखिये—आत्मानुभवके अतिरिक्त और अन्तरङ्ग चिह्न क्या बताया जाय, किन्तु यह भी ज्ञानकी पर्याय हुई। तो यहां ऐसी शंका न करें कि आचार्योंने फिर जितने लक्षण बताये हैं उनका यह ग्रन्थकार क्या खण्डन कर रहा है? खण्डन नहीं कर रहा है, स्वयं इस ही बातको आगे कहा जायगा, किन्तु यहां यह बतलाया जा रहा है कि ज्ञान द्वारा सम्यक्त्वका वर्णन होता है और ज्ञानकी पर्याय रूपसे सम्यक्त्वका लक्षण किया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाता है। सम्यक्त्व स्वयं निर्विकल्प वचनगोचर गुण है। उसका साक्षात् लक्षण नहीं बताया जा सकता है। तो यों सम्यक्त्व दुर्लक्ष्य है अर्थात् साक्षात् लक्षणके द्वारा लक्ष्यमें नहीं आ सकता है। इसी बातको अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो स्थूललक्षणैः।
वा मनः कायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥३८८॥

बाह्य लक्षणोंसे नीरोगता परिचयकी तरह श्रद्धानादि बाह्य लक्षणोंसे सम्यक्त्वका परिचय—जिस प्रकार रोगीकी निरोगता जानना बहुत कठिन है। भला किसी निरोग पुरुषकी उस निरोगताका साक्षात् दर्शन करके तो बताइये——जैसे यह शरीर साक्षात् दिखता है ऐसे ही यह निरोगता भी साक्षात् दिखने वाली चीज है क्या ? और अगर कोई निरोगताको बतावेगा तो समझिये कि वह मन, वचन, कायकी चेष्टाओंमें उत्साह बनाये हुए है, इसको देखकर बतायेगा कि यह नीरोग है, क्योंकि जो रोगी होता है उसका मन भी कुन्द रहता है, वचन भी उसके शिथिल रहते हैं और शरीर भी उसका शिथिल रहता है। उससे पहिचाना जाता है कि यह पुरुष निरोग नहीं है, रोगी है। तो निरोगताका साक्षात् लक्षण भी कोई बता नहीं सकता। अगर कोई बतायेगा तो मन, वचन, कायकी चेष्टाओंसे बतायेगा। तो जैसे निरोगता सीधे ज्ञानमें नहीं आती वह तो मन, वचन, कायकी स्वच्छ प्रबल चेष्टाओंसे विदित होती है, इसी प्रकार सम्यक्त्व परिचयका सीधा कोई लक्षण विदित न होगा, किन्तु वह ज्ञानकी विशुद्ध परिणति द्वारा लक्ष्यमें लाया जाता है।

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥३८९॥

शंकाकार द्वारा आत्मानुभूतिको ही सम्यक्त्वका साक्षात् लक्षण सिद्ध करनेका कथन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि वास्तवमें आत्मानुभूति ही साक्षात् सम्यक्त्व है, क्योंकि आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति मिथ्यादृष्टि पुरुषके नहीं हुआ करती। वह तो सम्यग्दृष्टिके ही हो सकती है। तो इससे यही तो सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्वका लक्षण आत्मानुभूति है। आत्मा अपने सत्त्वके कारण जैसा सहज स्वरूप रख रहा है, ऐसा आत्मपदार्थ अनुभवमें आ जाय, यह हूं मैं, इस प्रकारकी प्रतीति हो जाय, इसको कहते हैं आत्मानुभूति। तो ऐसी आत्मानुभूति मिथ्यादृष्टिके तो नहीं होती, क्योंकि वह तो पर्यायबुद्धि वाला जीव है। किसी भी पर्यायको वह अहं रूपसे (मैं रूपसे) अनुभव करेगा। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं रंक हूं, मैं राजा हूं, मैं पंडित हूं, मैं मूर्ख हूं,···इस तरहसे पर्यायरूप वह अपनेको अनुभवेगा। वह सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अपनेको कहाँ पहिचानता है ? तब आत्मानुभूति ही सम्यक्त्व है, ऐसा कहना चाहिए। इसे फिर बाह्य लक्षण क्यों कहा गया है कि यह भी ज्ञानकी पर्याय है और उसका बाह्य लक्षण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है । अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥३६०॥
आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थ स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥३६१॥

सामान्य, विशेषमें तथा साकारता, निराकारतामें भेद ज्ञात न होनेसे शङ्काकारकी उक्त शङ्काकी असंगतता—उक्त शंकाके समाधानमें कह रहे हैं कि जो शंकाकारने शंका की है कि आत्मानुभूति सम्यक्त्व है, उसे ज्ञानकी पर्याय क्यों कहते हो ? तो शंकाकारने वास्तविक मर्म नहीं पहिचाना है । शंकाकारने यहाँ सामान्य और विशेषमें भेद नहीं समझ पाया है और न इस शंकाकारको अनाकार और साकार चिह्नका भी बोध है । तो सामान्य, विशेष, अनाकार, साकार इनके स्वरूपका बोध न होनेपर इस तरहकी शंकायें उठ जाया करती हैं, पर ज्यों ही यह ठीक समझमें आयगा कि अनाकारका यह स्वरूप है, साकारका यह स्वरूप है अथवा सामान्यका यह रूप है, विशेषका यह रूप है, तो शीघ्र समझमें आयगा कि आत्मानुभूति भी ज्ञानकी पर्याय है । क्या कि जो यह विकल्प है अर्थविकल्प, अर्थग्रहण, कुछ अस्तित्वरूपसे समझा गया है ना तो वह ज्ञानकी ही पर्याय है ।

ज्ञानका अर्थविकल्परूप साकारत्व—आत्मानुभूतिका ज्ञानपर्ययत्व इस तरह समझमें आयगा कि देखिये—ज्ञान होता है साकार और दर्शन होता है निराकार । तो यहाँ आकारका अर्थ तिकोना, चौकोना, गोल-मटोल आदि नहीं है, किन्तु अर्थविकल्प, अर्थका परिज्ञान, जानन रूपसे जो वहाँ अस्तित्वका परिचय हो रहा है वह कहलाता है आकार । तो अर्थविकल्पका नाम आकार है, और विकल्प है उपयोगी अर्थात् उपयोगसहित जो अवस्था है वहाँ विकल्प है सो ज्ञानका लक्षण है । इस बातको कुछ दार्शनिक दृष्टिसे भी देखियेगा । दर्शनशास्त्रमें बताया है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय हो, सो ज्ञान है । तो ज्ञानमें निश्चय पड़ा हुआ है, और जहाँ निश्चय है वहाँ कुछ मुद्रा तो है ही इत्याकार, यह पदार्थ है, इस ढंगमें यह वस्तु है । तो वहाँ वह आकार आ गया । आकारका अर्थपरिचय, परिज्ञान, कोई बात थाप सके यह है । इस तरहकी बात जहाँ होती हो उसे आकार कहते हैं । जैसे कोई कहता है कि अमुक काम करना चाहिए, उसका बहुतसे लोग मिलकर प्रस्ताव करते हैं, समर्थन करते हैं तो कोई यह कहता है कि अब इस बातको साकार बनाओ ? तो क्या उसका यह भाव है कि इसे तिकोना चौकोना रूप बनाओ । जैसे किसीने यह प्रस्ताव रखा कि धर्मकी प्रभावना करनेके लिए बच्चोंके अध्ययनकी व्यवस्था बनाओ । एकने उसका समर्थन किया तो एक कहता है कि ऐसे प्रस्ताव तो अनेक बार हो चुके हैं । अब तो इसको साकार बनाओ । तो कोई वहाँ गोल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मटोल अथवा तिकोना चौकोना आदि रूप बनाना है क्या ? अरे उसको साकार बनानेका मतलब यह है कि जो कहा है उस कामको अब कर डालो। अब यहाँ देखिये ज्ञानके सम्बन्ध में साकारता क्या कहलायगी ? जहाँ यह निश्चय हो गया, निर्णय हो गया कि बस यह है, इस निर्णय को ही साकारता कहते हैं। तो यही आकार ज्ञानका लक्षण है। पदार्थोंको भेद रूपसे जाना, सामान्यरूपसे जाना, जहां यह है, इस प्रकारका रूप बनता है, मुद्रा होती है, बोध होता है उसको आकार कहते हैं याने पदार्थोंके जाननेका ही नाम आकार कहलाता है। जहाँ आकार होता है वहाँ संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय नहीं रहता। जहाँ वास्तविक अर्थ विकल्प हो, जैसा कि वह पदार्थ है, वहाँ न तो संशय रहता कि यह ऐसा है कि ऐसा है, न विपर्यय रहता कि हो कुछ, जाने कुछ और न अनध्यवसाय रहता, यह है एक सम्यग्ज्ञानकी बात, लेकिन ज्ञान कोई भी हो, स्वयं संशयमें भी आकार पड़ा हुआ है, विपर्ययमें भी आकार पड़ा हुआ है, और तो जाने दो, अनध्यवसायमें भी आकार पड़ा है। जहाँ जिस ढंगका आकार है, जहाँ जिस ढंगकी बात है वहाँ उस ढंगकी ही समझ लेना चाहिए। संशयमें अनेक कोटिमें फिरने वाले ज्ञान हैं और उसका बोधमय आकार भी संक्रान्त हो रहा है, विकल्प भी क्षण-क्षण मुड़ रहा है, यहाँसे वहाँ पहुंचता रहता है, इस ढंगका आकार चलता रहता है तो विपर्यय ज्ञानमें विपरीत रूपसे आकार आया है। पदार्थ है कुछ और समझ बैठे और ही कुछ। इस तरहसे विपरीत आकार आया है और अनध्यवसाय है वहाँ भी कुछ ग्रहण है, कुछ है, कुछ तो मनमें बात आयी, किसी प्रकारका आभास तो हुआ। भले ही हम उसे आगे न बढ़ा सकें, स्पष्ट न कर सकें, किन्तु वहाँ जो भी समझा गया है वह उतना ही वहाँ आकार है। तो ज्ञान जितने भी होते हैं उनमें उतने अर्थविकल्प होते हैं। तो आत्मानुभूतिमें आप समझ लोगे कि यहाँ भी किसी न किसी ढंगमें अर्थविकल्प हो रहा है। अतः निर्विकल्प रूपसे तो वे ज्ञानकी पर्यायें हैं। उस आत्मानुभूतिको भी सम्यक्त्वका साक्षात् लक्षण नहीं कह सकते।

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥३९२॥

अनाकारताका विवरण—यह प्रकरण शंकाकारकी एक शंकाके समाधानके लिए चल रहा है। शंकाकारकी शंका थी कि आत्मानुभव तो साक्षात् सम्यक्त्व है। उसे सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण क्यों कहा जा रहा है ? इससे पहिले सम्यक्त्वके लक्षणोंमें जितने भी लक्षण प्रसिद्ध हैं, श्रद्धान हो, आत्मानुभव हो, सभी बाह्य पदार्थ हैं, ये साक्षात् सम्यक्त्वके स्वयं लक्षण नहीं हैं, सम्यक्त्वकी परिणति नहीं, ये हैं अन्य गुणके परिणमन, किन्तु उनका उपचार किया गया है। ऐसे ही इस आत्मानुभूतिको भी कह डाला था तो यहाँ शंकाकारने यह आपत्ति दी कि आत्मानुभव तो साक्षात् सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके आत्मानुभव होता ही नहीं है, इसे क्यों सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण कह रहे हो ? उसके समाधानमें यह बात बतलायी गयी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

थी कि शंकाकारने सामान्य विशेषमें अन्तर नहीं समझा और अनाकार साकारमें अन्तर नहीं समझा, इस कारण यह शंका उत्पन्न हुई है। तो अनाकार और साकार इन दोनोंका स्पष्टीकरण करनेके लिए पूर्व श्लोकमें तो आकारका स्पष्टीकरण किया गया था कि आकार है अर्थविकल्प और वह होता है स्वपरविषयक। अब इस इस श्लोकमें अनाकारका स्पष्टीकरण किया जा रहा है। जो आकारका स्वरूप कहा गया था वह आकारस्वरूप न रहे, इसका नाम है अनाकार। आकारके न होनेको अनाकार कहते हैं। आकारका अर्थ था अर्थविकल्प। अर्थविकल्प न होनेका नाम अनाकार है अर्थात् निर्विकल्प। जहाँ परिचय नहीं, परिज्ञान नहीं, आकारग्रहण नहीं, ऐसी स्थितिको कहते हैं अनाकार। तो यह निर्विकल्पता कहो या कहो अनाकारता, यह अनाकारता ज्ञान छोड़कर बाकी सब आत्मधर्मोंमें पाया जाता है। आत्मामें अनन्त धर्म माने गए हैं। उनमें केवलज्ञान ही तो ऐसा है कि जिसमें अर्थविकल्प होता है, पदार्थपरिग्रहण होता है, जानना होता है, उसके अतिरिक्त जितने भी धर्म हैं वे सब अनाकार कहलाते हैं, क्योंकि कोई भी धर्म हो, श्रद्धान हो, चारित्र हो, अस्तित्वादिक हों, साधारण असाधारण अन्य सभी धर्म (ज्ञानोंको छोड़कर) सब अनाकार कहलाते हैं, क्योंकि वे स्वयं कुछ चेतते नहीं हैं, वे सब चैत्यभाव हैं।

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत्।
तत्किं किञ्चिदनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥३६३॥

ज्ञानातिरिक्त अन्य आत्मगुणोंको अनाकार कहनेके कारणकी जिज्ञासा—अब यहां शंकाकार कह रहा है कि सत् सामान्य हो वह भी तो विशेषकी तरह वास्तविक है। प्रकरणके अनुसार यहां सत् सामान्यका अर्थ ले लीजिए—ज्ञानको छोड़कर अनन्तधर्म, क्योंकि वे केवल सत्रूप हैं, चहलपहल करने वाले नहीं हैं, जानने समझने वाले नहीं हैं, अर्थात् जहां चहल-पहल नहीं उसमें वहां विशेषता क्या आयगी? विशेषता तो ज्ञानमें आती है। तो यहां सत् सामान्यको कह लीजिए ज्ञानातिरिक्त, शेष धर्म और विशेषको कह लीजिए ज्ञानधर्म। तो शंकाकार यहां कह रहा है कि सत् सामान्य भी तो विशेषकी तरह वास्तविक है। आत्मामें जैसे ज्ञानगुण है उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी हैं, फिर उनमेंसे किसीको अनाकार कहना और किसीको साकार कहना भी कठिन हो जाता है। शंकाकारकी शंकाका आशय इतना ही है कि जैसे ज्ञानधर्म न हो आत्मामें तो आत्माका सत्त्व न रहेगा, इसी तरह शेष अनन्त धर्म भी ऐसे हैं जो कि वास्तविक सत्त्वके सूचक हैं, उनमें से यदि कोई न रहेगा तो आत्माका सत्त्व न रहेगा। जैसे मान लो आत्मामें एक अमूर्तत्व गुण है, भले ही वह साधारण असाधारण है, पर है तो सही। जरा ऐसा सोच लो कि आत्मामें सारे गुण तो मौजूद हों और एक अमूर्तपना हट जाय तो वे गुण सब भद-भद गिरकर खतम हो जायेंगे। इसी तरह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

साधारण भी, असाधारण भी सभी धर्म इसमें वास्तविक हैं। फिर विशेषको तो साकार कह रहे हो, ज्ञानको ता साकार बता दिया और शेष धर्मोंको अनाकार बता दिया, यह अन्तर कैसे आ सकता है, सो बताओ। अब इस शंकाका समाधान अगले श्लोकमें कहा जा रहा है—

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत्।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥३६४॥

सामान्यकी अनाकारता व विशेषकी साकारताका विवरण—उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि यह बात ठीक है कि पदार्थ सामान्यवान भी है और विशेषवान भी है, लेकिन सामान्य अनाकार होता है और विशेष साकार होता है। यहाँ मुख्य अर्थकी ध्वनिके साथ गौण अर्थ भी ध्वनित हो रहा है। गोणको ऐसा समझ लीजिए कि सामान्य और विशेष है पदार्थमें लेकिन सामान्य तो अनाकार होता है और विशेष साकार। जैसे सामान्य जाति, यह तो सामान्य है और एक-एक मनुष्य यह विशेष है। तो व्यक्तिगत एक एक मनुष्य वह आकारवान है कि नहीं? मनुष्यजातिका कोई आकार नहीं। यदि मनुष्य जातिका आकार बतायेंगे तो व्यक्तिका आकार बताकर कह सकेंगे कि ऐसा सभी मनुष्योंका आकार है, लेकिन मनुष्यजाति तो एक है, उस एक मनुष्य जातिका आकार बताओ। तो यहां भी यह बात बनती है कि सत्सामान्य तो अनाकार होता है और विशेष साकार होता है और भी विस्तृत दृष्टिमें जाइये तो सारा जगत यह तो हुआ सत्सामान्य, जिसे कहा महासत्ता, और जो एक एक द्रव्य है वह है विशेष, तो विशेषमें तो आकार है, प्रदेशवान भी है आवान्तरसत सब प्रदेशवान हैं, पर जरा महासत्ताको बताओ उसके कितने प्रदेश हैं? महासत्ता प्रदेशबान चीज तो नहीं है, वह तो समस्त आवान्तर सत्ताओंकी निरखकर एक जाति रूपमें कहा गया है। यों अन्य जगह भी यही अर्थ लगायें कि सत् सामान्य अनाकार है और विशेष आकार है। अब जरा प्रकृतमें भी देखिये—तो यह सत्सामान्य निराकार है और विशेष साकार है याने ज्ञान अर्थविकल्परूप है, उसमें विशेषता है, साकार है और अन्य धर्म अनाकार हैं। जैसे चारित्र श्रद्धा आदिक गुण ये तो चेतने वाले नहीं हैं, इनकी बात तो अनाकार है। ये अन्य धर्म अनाकार हैं, यह भी जल्दी स्पष्ट हो जायगा। अब चेतने वाले एक दर्शन गुणको ही ले लीजिए। चेतने वाले दो तत्त्व हैं—दर्शन और ज्ञान। उसमें भी दर्शन निराकार है और ज्ञान साकार है। तो इस तरह भी यह जाना जाता है कि सत्सामान्य अनाकार हुआ करता है तो जैसे दर्शन अनाकार है इसी तरह समस्त धर्म भी ज्ञानातिरिक्त जितने हैं वे सब अनाकार हैं। सारांश यह है कि पदार्थका जो बोध करने वाला विकल्प है वह साकार कहलाता है। दूसरी बात इस तरह भी जान सकते हैं कि ज्ञानमें वस्तुके विशेषण, विशेष्य, सम्बंधका निर्णय होता है, इस कारण वह साकार है। जहाँ किसी पदार्थको जाना और जाननेके साथ ही यह जाना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि यह चौकी है, देखिये—यह स्थापनानिक्षेप हो गया। चौकीको चौकी जाना। जानकारी में स्थापना पड़ी हुई है। कुछ समझे और उसमें यह कहे कि यह चौकी है तो क्या एक पदार्थ में चौकीपन स्वभावमें पड़ा है ? पदार्थ तो जो है सो है, उसमें "यह चौकी है" यह स्थापना की गई। इस तरह जितना हम परिज्ञान करते हैं उसमें विशेष्यविशेषणभाव साथ लगे हुए हैं। जिसको जाना वह विशेष्य है और जिस ढंगसे जाना वह विशेषण हो गया। एक ही पदार्थमें एक ही परिज्ञानमें विशेषणविशेष्य सम्बन्ध पड़ा हुआ है। इत्याकार ही बोध है परिज्ञानका। इस कारण भी यह साकार है और अन्य गुण निराकार है, इस तरहकी शंकाके उत्तरमें जिस शंकामें शंकाकारने यह कहा था कि आत्मानुभूतिमें तो सम्यक्त्व कह लीजिए। उसे क्यों बाह्य लक्षण कह रहे ? उसके समाधानमें साकार अनाकारका परिचय कराना था तो यहां साकार अनाकारका यह परिचय कराया गया है। अब इसी परिचयका और स्पष्टीकरण करते हैं।

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ता सल्लक्षणाङ्किताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥३९५॥

ज्ञानातिरिक्त शेष धर्मोंकी अनाकारताका कथन—ज्ञानके सिवाय शेष सारे गुण सन्मात्र कहे गए हैं। सत् लक्षण करके अंकित किये गये हैं याने इस विवेचनमें सत् सामान्य शब्दसे क्या लेना ? ज्ञानको छोड़कर शेष सब धर्म और विशेष शब्दसे क्या लेना ? ज्ञान। तो उन शेष अनन्त धर्मोंमें कुछ तो साधारण धर्म भी हैं और कुछ विशेष धर्म भी हैं, हैं वे सभीके सभी निर्विकल्प। आत्मामें अनन्त धर्म बताये गए हैं—उन धर्मोंमें ज्ञान तो साकार धर्म है और शेष निराकार धर्म हैं, उन शेष धर्मोंमें कुछ तो हैं काधारण धर्म, जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जा सकते हैं, जो न किए जायें, जिनका सम्बन्ध अन्य द्रव्योंमें भी पाया जाता है। ऐसा नहीं है कि आत्मामें जो अस्तित्व गुण पाया जा रहा वह पुद्गलमें भी पाया जा रहा, पर सामान्य गुण हैं साधारणका यह अर्थ नहीं। यह तो फिर एक ऐसा विशेषवादका प्रसंग आ जायगा कि गुण एक है, सर्वव्यापक है और उस अस्तित्वका जिसमें समावेश हो गया है तो, सत् हो गया है तो, यों साधारण गुण और असाधारण गुण, कोई भी व्यापक गुण नहीं है। हाँ अपने द्रव्यमें व्यापक है तो उन साधारण गुणोंके समान साधारण गुण अन्यमें भी पाये जाते हैं तो ऐसे भी धर्म हैं और असाधारण धर्म हैं किन्तु वे सब हैं अनाकार। ज्ञानके सिवाय सभी गुण अपनी सत्ता लक्षण ही रख रहे हैं। मात्र ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो अपने सत्त्वसे, अपनी वृत्तियोंसे अपना और दूसरोंका बोध करता है, इसी कारण वह साकार है, किन्तु यह कला अन्य धर्मोंमें नहीं पायी जाती। इस कारण शेष सभी धर्म अनाकार कहलाते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ततो वस्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुतः।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥३९६॥

अवक्तव्य होनेसे सम्यक्त्वका ज्ञान द्वारा उल्लेख—उक्त विवेचनके बाद यहाँ सारांश रूपमें कह रहे हैं, इस कारण जो निर्विकल्प वस्तु है वह कहे जानेके शक्य नहीं है, और वह वचनके अगोचर है। यह बात कही जा रही है शंकाके समाधानमें कि श्रद्धान भी वचनके अगोचर है। सम्यक्त्व निर्विकल्प है, वचनके अगोचर है, इस कारण उसका कोई भी लक्षण बताया नहीं जा सकता। जो भी लक्षण बताया जायगा या तो ज्ञानपर्याय द्वारा बताया जायगा या अन्य पर्याय द्वारा, तो निर्विकल्प वस्तुका जब कथन ही शक्य नहीं है, किया जानेके अगोचर है तो उसका उल्लेख ज्ञान द्वारा किया जाता है। शंकाका समाधान करते हुए अन्तमें स्वीकार तो यह करेंगे कि सम्यक्त्वकी पहिचानके लिए आत्मानुभूति ही एक खास महत्त्वपूर्ण लक्षण है। बात तो यह सिद्ध करेंगे, क्योंकि आत्मानुभवसे सम्यक्त्वकी परख कर लेना निर्दोष परख है, फिर भी वस्तुधर्मका गुणके स्वरूपकी दृष्टिसे विवेचन किया जा रहा है, अतएव यह कहा जा रहा कि आत्मानुभूतिसे और भी गहरे चलकर कोई बात सम्यक्त्वमें होती है, इस कारण यह कह रहे हैं यहाँ कि वह तो निर्विकल्प वस्तु है, उसका कथन नहीं हो सकता। तब उसको बात समझानेके लिए ज्ञान द्वारा ही कथन किया जा सकता है। और इस बातको यों भी समझ लीजिए—यह तो है सम्यक्त्वकी बात। अब थोड़ा विकार वाली बातमें चलो—रागका क्या स्वरूप है? रागमें जो बात बर्त रही है उसको उसी रूपसे कहा जाना अशक्य है, जो कहेगा वह ज्ञान द्वारा और जो समझेगा वह ज्ञान द्वारा। फिर यह तो सम्यक्त्व जैसी निर्विकल्प शुद्ध परिणतिकी बात कही जा रही है। जो विकारसे परे सूक्ष्म बात है, विकार तो एक व्यक्त प्रकट जैसा तत्त्व है। यह सम्यक्त्व भी वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता, इसी कारण उसका उल्लेख ज्ञान द्वारा किया गया है।

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥३९७॥

ज्ञानकी स्वापूर्वार्थग्राहकता—ज्ञानमें अर्थविकल्प बताया गया था तो उस ही अर्थविकल्पके बोधके लिए उस श्लोकमें ज्ञानका स्वरूप कहा जा रहा है। स्व और अपूर्व अर्थ दोनोंको जो जान सकता हो उसे ज्ञान कहते हैं। और वे दोनों ज्ञान, उन दोनों तत्त्वोंका ज्ञान ज्ञान द्वारा एक ही समयमें होता है। ज्ञानका लक्षण दर्शनशास्त्रमें कहा गया है कि स्व और अपूर्व अर्थका जो निश्चायक हो उसे ज्ञान कहते हैं। तो इसमें स्वका अर्थ है स्वयं वही ज्ञान और अपूर्व अर्थका मतलब है अन्य कोई पदार्थ। यदि यह आत्मा आत्माको ही जान रहा है तो वहाँ स्व तो कहलाया ज्ञान और अपूर्व पदार्थ कहलाया आत्मा। आत्माको जान रहा है, जिस

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञानसे जान रहा है वह ज्ञान स्वयंका भी निर्णय किए हुए है कि मैं ठीक हूं और पदार्थका भी निर्णय कर रहा कि यह ठीक यही पदार्थ है। जैसे आपने जाना कि यह चौकी है तो 'चौकी है' यह निर्णय तो आप बड़ी दृढ़तासे कर रहे हैं और यहाँ आप कमजोरी बताओ कि जिस ज्ञानके द्वारा जान रहे हो कि यह चौकी है, वह ज्ञान सही है या नहीं ? तो चौकीका ज्ञान कैसे सही बैठ जायगा ? चौकीका जब हम ज्ञान कर रहे हैं तो जिस ज्ञानके द्वारा चौकी का ज्ञान है उस ज्ञानमें भी मजबूती हो और चौकी के निर्णयमें भी मजबूती हो, ये दो बातें हों तब वह सच्चा ज्ञान है और होता ही ऐसा है। कोई संशयित ज्ञान हो तो वहाँ भी मजबूती नहीं रहती और पदार्थके निर्णयमें भी मजबूती नहीं रहती। जैसे पड़ी तो सीप थी और उसके सम्बन्धमें जान रहे हैं कि यह सीप है या चाँदी, तो वहाँ ढुलमुल बात रहती है पदार्थ का सही निर्णय नहीं हो पाता है। तो ज्ञानमें ऐसी कला है कि पदार्थका निर्णय कर रहे हो तो वहां भी दृढ़तापूर्वक समझ रहे हैं और अन्तः भी दृढ़तापूर्वक समझ रहे हैं, इस कारण स्व और अपूर्व अर्थके ग्रहण करनेके लिए ज्ञानको प्रमाण कहा है। तो यहां अनिश्चित पदार्थ का निश्चय करनेके समयमें ज्ञान कहीं उस बाहरी पदार्थरूप नहीं हो जाता और पदार्थ ज्ञानरूप नहीं हो जाता। ज्ञान ज्ञान ही रहता और पर पर ही रहता, पर ज्ञानका स्वरूप ऐसा है कि वहां निर्णय बनाये हुए हैं और अन्तः में भी निर्णय बनाये हुए हैं। अब यह बतला रहे हैं कि ज्ञानका जो लक्षण स्व और अपूर्व अर्थका परिचायक कहा है तो स्व नाम किसका है और अपूर्व अर्थ नाम किसका है ?

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः।
परार्थस्स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥३९८॥

ज्ञान द्वारा ग्राह्य स्वार्थ व परार्थका विवरण—स्व और अन्य अर्थ। अर्थ कहते हैं अर्यते निश्चीयते इति अर्थः, अर्थात् जो निश्चित किया जाय वह अर्थ है। अर्थका यह अर्थ नहीं कि कोई पिण्डरूप चीज हो। तो आत्मा जब सुखको जान रहा है तो सुख तो हो गया अर्थ और सुखका जानने वाला जो ज्ञान है वह हो गया स्व। देखो—यहाँ भी स्व और अपूर्व अर्थका ज्ञान किया गया है और बात जाने दो, ज्ञान जब आत्माके बारेमें ही सोच रहा है कि यह आत्मा असंख्यातप्रदेशी है आदिक रूपसे। तब वहाँ स्व तो है वह ज्ञानप्रकाश और अर्थ बन गया यह असंख्यातप्रदेशी आत्मा। यही बात बाहर भी घटित होती है। हमने जाना कि यह चौकी है। तो चौकी तो हो गया अर्थ और ज्ञान हो गया स्व, तो यहां ज्ञानका स्वरूप क्या हुआ ? ज्ञानका स्व हुआ ज्ञान ही और ज्ञानका परार्थ क्या हुआ ? ज्ञानके अतिरिक्त जो भी चीज हो वह हुआ परार्थ। ज्ञानने सम्यक्त्वको जाना, चारित्रको जाना, सुखको जाना, जिस किसी भी अपने आपके परिणमनको, गुणको जाना तो वह सब है अर्थ परार्थ और यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञान एक यह स्व है । अब समझ लीजिए कि इस ज्ञानकी कितनी बड़ी महिमा है ? तो जब ज्ञान किसी को जान रहा है तो ज्ञान हो गया निज (स्व) और बाकी सब हो गया ज्ञेय परार्थ तो सुखादिक जो पदार्थ हैं उनका ज्ञान करने वाला यह ज्ञान स्व हुआ और तब उससे अतिरिक्त जो कुछ है वह पर है । है पर, लेकिन इस ज्ञानका इस परके साथ निकट सम्बन्ध है । जैसे ज्ञानने चौकी को जाना तो यहां कहते हैं कि यह पर पर है और ज्ञान ज्ञान है । यह अन्य वस्तु है । इस तरह यहां नहीं कह सकते । ज्ञान ने सुखादिकको जाना तो ऐसे पर तो हुए, मगर ये भिन्न पर नहीं हैं, किन्तु एक वस्तुविषयक ही पर हैं ।

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ।।३९९।।

गुणोंकी भिन्नस्वरूपता होनेसे ज्ञानग्राह्य स्वार्थ व परार्थकी विशेषता—शंकाकारकी मूल शंकाके समाधानमें यहां यह बताया जा रहा है कि ज्ञान तो है साकार और शेष गुण हैं निराकार । साकार ज्ञान यों कहलाता है कि ज्ञानमें ही एक ऐसी कला है कि वह स्व और परार्थको जाने । तो इस प्रसंगमें स्व तो हुआ ज्ञान और परार्थ हुए आत्माके शेष समस्त धर्म । ज्ञान स्वको भी जानता है और सुख श्रद्धान आदिक अन्य गुणोंको भी जानता है । तो यहाँ जो सुख आदिकको परार्थ कहा है सो वस्तुदृष्टिसे ये ज्ञानसे सम्बन्धित हैं अर्थात् ज्ञानका आधार जो आत्मा है वही आधार शेष धर्मोंका है । फिर भी ज्ञानका जो स्वरूप है वह सुखका स्वरूप नहीं, जो सुखका स्वरूप है वह ज्ञानका स्वरूप नहीं । इस कारणसे यह स्व और पर अर्थ कहलाता है । सुख दुःखादिक भाव जीवके ही गुण हैं । ज्ञान उन सब भावोंको जानने वाला है । परन्तु ज्ञान स्वयं सुखरूप नहीं हो जाता । इस कारणसे परस्पर भेद है । जैसे घट पट आदिक पदार्थोंको जानते हैं तो प्रकट भेद दृष्टिमें आ जाता है कि ज्ञान तो है आत्मभूत और ये पदार्थ हैं उन ही चतुष्टयमें । तो जैसे यहां अत्यन्त भेदरूपसे ज्ञात हो जाता है ऐसे ही ज्ञान में सुखादिक भाव अत्यंत भेद रूपसे न होनेपर भी स्वरूप चूंकि उनका निराला है, इस कारण से वहाँ भी भेद प्रसिद्ध हो जाता है ।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ।।४००।।

वचनागोचर सम्यक्त्वका विधिक्रमसे कथन किये जानेकी अशक्यता—सम्यग्दर्शन वास्तवमें आत्माका सूक्ष्म गुण है और वचनके अगोचर है । सम्यक्त्व प्रकृतिमें क्या होता है इस बातको विधिरूपसे बतानेके लिए शब्द नहीं हैं और इसी कारण उस सम्यक्त्वके यथार्थ तथ्यको कहनेका कोई अधिकारी है और न उस रूपसे सुननेका कोई अधिकारी है, क्योंकि वह सम्यक्त्व परिणति एक सूक्ष्म गुण है और वचनोंके अगोचर है । तो इस सम्यक्त्वको विधिरूप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

से नहीं बताया जा सकता है। ऐसे कथनसे यह भी बात समझ लेनी चाहिए कि सम्यक्त्व किसी प्रकार बताये ही नहीं जा सकते, सो बात नहीं है, किन्तु वे ज्ञान द्वारा अन्य गुण-परिणति द्वारा बताये जा सकते हैं अथवा निषेध बुद्धिसे बतलाये जा सकते हैं। किसी चीज को बतानेके तीन ढंग होते हैं। उसको उसकी विधि द्वारा बता देवे, उसको अन्यके प्रतिषेध द्वारा बता देवे अथवा अन्य चीजकी विधि द्वारा बता देवे, तो यहाँ सम्यक्त्व अपने आपकी पर्यायकी विधि द्वारा नहीं बताया जा सकता, वह अन्य गुणोंकी विधि द्वारा बताया जा सकता है और अन्यके प्रतिषेध द्वारा बताया जा सकता है। जो भाव सम्यक्त्वके विपरीत है वह तो वचनके गोचर है। सम्यक्त्वका विपरीत भाव बताया जा सकता है तो उस भावके निषेध द्वारा भी सम्यक्त्वका कथन होता है।

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येक हेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥४०१॥

स्वानुभूतिकी सम्यक्त्वका सद्भाव सिद्ध करनेमें परमसाधनता—आत्माका एक ज्ञान-गुण किसी भी तत्त्वकी सिद्धि करनेमें प्रसिद्ध है, बाह्य पदार्थोंके भी सिद्धि करने में समर्थ ज्ञानगुण है और आत्मामें रहने वाले गुणोकी प्रसिद्धि करनेमें भी समर्थ ज्ञानगुण है। तो यही ज्ञानगुण जब स्वानुभूतिमें परिणत होता है तो उस स्वानुभूति परिणत ज्ञानके द्वारा सम्यक्त्व की बात बतायी जा सकती है। तो सम्यक्त्वका परिचय स्वानुभूतिरूप एक मात्र कारणसे होता है। इस ही कारणसे वह सम्यग्दर्शन अथवा स्वानुभूति एक उत्कृष्ट पद है। यहां इस पर प्रकाश डाला गया है कि ज्ञानगुण ही समस्त पदार्थोंके सद्भावकी सिद्धि करनेमें समर्थ है, ज्ञान द्वारा ही हम ज्ञानका सद्भाव जान पाते हैं। ज्ञान द्वारा ही हम इस गुणी आत्माको जान पाते हैं। ज्ञान द्वारा ही हम आत्मामें रहने वाले गुणोंको, धर्मोंको, पर्यायोंको जान पाते हैं और ज्ञान द्वारा ही हम बाह्यमें स्थित पदार्थोंको जान पाते हैं। इसी कारण ज्ञानके सिवाय हमारे पास और कोई उपाय नहीं है कि किसी बातको समझ सकें। तब ज्ञान ही एक साकार रूप है, व्यवस्थापक है—यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो जाती है। अब यह ज्ञान जब आत्मा के सहजस्वका अनुभव कर रहा हो ऐसी स्वानुभूतिमें परिणत ज्ञान ही सम्यक्त्वका परिचायक हो सकता है और इस कारणसे सम्यक्त्व भी उत्कृष्ट पद है और यह स्वानुभूति भी उत्कृष्ट वस्तु है।

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः ॥४०२॥

स्वानुभूतिका सम्यक्त्व साधनत्व—उक्त श्लोकमें बताया गया है कि ज्ञान ही सबके साधन करनेमें समर्थ है और स्वानुभूति ही उस सम्यक्त्वका परिचय करानेमें एक प्रधान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कारण है । उस ही के सम्बन्धमें यहाँ बता रहे हैं कि आत्माकी शुद्धनय रूपसे हुई वह स्वानुभूति आत्माका विशिष्ट ज्ञान है । वह आत्मानुभूति क्या चीज है ? तो वह आत्माका एक ज्ञान विशेष है । जैसे इन जिन ज्ञानों द्वारा ये बाहरी पदार्थ जाने जाते हैं यह भी ज्ञान है और ज्ञान द्वारा आत्माके द्रव्य गुण पर्यायकी चर्चाकी जाती है तो वह भी ज्ञान है और सहज जैसा आत्माका अपने आप स्वरूप है केवल ज्ञानमात्र, ऐसा शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र आत्माको जानना यह भी एक ज्ञान है, लेकिन इन ज्ञानोंमें उत्कृष्टतः स्वानुभूतिता और पूज्यता की दृष्टिसे देखें तो यथार्थ सहज स्वरूपमय आत्माका परिचय कराने वाला, अनुभव कराने वाला जो ज्ञान है उसे ज्ञानविशेष कहेंगे । उन सब ज्ञानोंसे खास महत्व रखने वाला यह ज्ञानविशेष है । तो यह स्वानुभूतिरूप ज्ञानविशेष प्रकृत सामान्यके साथ याने सम्यक्त्वके साथ अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध रखता है, अतः अन्वय और व्यतिरेक होने के कारण यह स्वानुभूति सम्यक्त्वका अविनाभावी गुण है, इस तरह सम्यक्त्वका निर्दोष साधन है आत्मानुभूति । यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि पहिले स्वानुभूतिसे भी यह कह डाला था कि यह सम्यग्दर्शनका एक बाह्य लक्षण है अर्थात् सम्यग्दर्शनकी परिणतिरूप लक्षण नहीं है और अब स्वानुभूतिको निर्दोष साधन बताया जा रहा है कि सम्यक् स्वानुभूतिके उपायसे ही, स्वानुभूतिके साधनसे ही सम्यक्त्वका परिचय होता है । तो इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है । पहिले जो कथन किया गया था वह इस रूपमें था कि स्वानुभूति स्वयं सम्यक्त्वगुणकी परिणति नहीं है । सम्यक्त्व गुणका परिणमन तो कोई अनिर्वचनीय है और अब यहाँ यह बतलाया जा रहा कि स्वानुभूति यद्यपि स्वानुभूत्यावरणके क्षयोपशम और उपयोग होनेसे हुआ है, सो ज्ञानकी परिणति है, फिर भी स्वानुभूति सम्यक्त्वके साथ ऐसा अविनाभाव रूप साधन बना कि स्वानुभूतिके द्वारा सम्यक्त्वका परिचय हो जाता है । इस ही बातको स्पष्ट रूपसे आगे बतायेंगे कि कैसे अविनाभाव सम्बन्ध है, अन्यथानुपपत्तिका साधन कैसे है अर्थात् जिस साध्य के बिना साधन न हो सके उस साधनको अन्यथानुपपत्तिसाधित कहते हैं । जैसे अग्निके बिना धूम नहीं हो सकता तो धूम अन्यथानूपत्तिका साधन है । अर्थात् धूम होने पर अग्निका अवश्य ही ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार सम्यक्त्वके न होनेपर यह शुद्धनयात्मक अनुभव हो नहीं सकता, इस कारण स्वानुभूति हो तो वहाँ नियमसे सम्यक्त्व है, ऐसा ज्ञान होता है । इस कारण स्वानुभूति सम्यक्त्वका साधन निर्दोष साधन है ।

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्साचेच्छुद्धनयात्मिका ॥४०३॥

शुद्धनयात्मिका स्वानुभूतिकी सम्यक्त्वरूपताकी दृष्टि—उक्त दो श्लोकोंमें अन्वय और व्यतिरेकव्याप्ति बताकर यह सिद्ध किया गया है कि सम्यक्त्वका साधन स्वानुभूति निर्दोष

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

साधन है। इस तरह बतानेके बाद यहाँ निर्णय रूपमें कह रहे हैं, इस ही कारण अब अर्थात् यहाँ अन्वय और व्यतिरेकका सद्भाव है, इस कारण अब सम्यक्त्वको कहनेकी योग्यता आ गयी अर्थात् सम्यक्त्वका परिचय हम करा सकें, इस प्रकारकी अब यहाँ योग्यता आयी है अर्थात् यह सम्यग्दर्शन अब रूपान्तरसे कहनेके योग्य बन गया है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दर्शनको सम्यग्दर्शनकी परिणति रूपसे अब भी नहीं बताया जा सक रहा है, लेकिन वह स्वानुभूति सम्यक्त्वके साथ अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति रख रहा है इस कारणसे बताया जा सकता है और यह निर्णय दिया जा सकता है कि यदि वह शुद्धनयात्मक स्वानुभूति है तो वही सम्यक्त्व हो जाता है। शुद्ध नयात्मक स्वानुभूतिके कहनेका अर्थ यह लेना कि स्वानुभूति सामान्यतया तो सब जीवोंकी पायी जाती है। कौन जीव ऐसा है कि जो स्व की अनुभूति बिना रहता हो। यदि स्वका अनुभव न हो तो सुखदुःखादिकका अनुभव न हो सकेगा। ऐसे सामान्य या किसी भी रूपसे स्वकी अनुभूतिकी बात नहीं कह रहे, किन्तु जो शुद्ध नयात्मक है, शुद्ध सामान्यके द्वारा ज्ञात जो विषय है, तत्त्वरूप जिसने अपना अनुभव किया है उस स्वानुभूतिकी बात कही जा रही है कि यदि वह स्वानुभूति है तो वही सम्यक्त्व कहलाता है। यों स्वानुभूतिज्ञानविशेषके द्वारा सम्यक्त्वका निर्वाधरूपसे परिचय होता है।

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥४०४॥

सम्यक्त्व और स्वानुभवमें विषमव्याप्ति व समव्याप्तिका विवरण—स्वानुभूतिका अन्वयव्यतिरेक बताकर स्वानुभूतिके द्वारा सम्यक्त्वका निर्वाधपरिचय अनुमानकी बात सिद्ध करके अब यहां यह बतला रहे हैं कि स्वानुभूतिके द्वारा सम्यक्त्व सिद्ध हो गया, लेकिन यहाँ फिर भी विशेषता यह जाननी चाहिए कि सम्यक्त्व और अनुभवमें समव्याप्ति नहीं है, किन्तु विषमव्याप्ति है। विषमव्याप्तिका अर्थ क्या है ? इस बातको एक दृष्टान्त द्वारा समझियेगा। जैसे अनुमानमें यह सिद्ध किया कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होने से तो साधन धूम बनाया और अग्नि साध्य बनाया। कोई पुरुष चला जा रहा था और पर्वतपर उसे धुवाँ दीखा तो वहाँ यह अनुमान करते हैं कि वहाँ आग लगी हुई है तब ही तो धुवां निकल रहा है। तो धूम साधनके द्वारा अग्निको सिद्ध किया है। यहाँ अन्वय और व्यतिरेक दोनों घटित होते हैं। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है यह है अन्वयव्याप्ति, और जहाँ अग्नि न हो वहाँ धूम नहीं होता, यह है व्यतिरेकव्याप्ति। तो अन्वयव्यतिरेक तो है, पर अग्नि और धूमको समव्याप्ति नहीं है अर्थात् विषम व्याप्ति है अर्थात्के होने पर धुवां हो भी, न भी हो, इसलिए विषमव्याप्ति होनेके कारण अनुमानमें अन्तर न आयगा। वह अनुमान गलत न हो जायगा। क्योंकि अनुमानमें साधन धूमको बताया गया। जहां जहां धूम है वहां अग्नि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अवश्य है। यदि कोई अग्निको साधन बना दे और धूमको साध्य बना दे तो यह निर्दोष अनुमान नहीं हो सकता। कोई कहे कि यहां धुवां होना चाहिए अग्नि होनेसे तो विषमव्याप्ति होनेके कारण अनुमान नहीं बन सकता क्योंकि अनेक अग्नि ऐसी पायी जाती हैं कि अग्नि है पर धूम नहीं है। जैसे कोई कोयला खूब पक गया तो वहां धूम नहीं मालूम होता और अग्नि है अथवा अन्य अग्नि। इसी प्रकार स्वानुभूति और सम्यक्त्वकी विषम व्याप्ति है याने जहां स्वानुभूति है वहां नियमसे सम्यक्त्व है, इसमें कोई बाधा नहीं, लेकिन कोई स्वानुभूति को साध्य बना दे और सम्यक्त्वको साधन बनाये कि जहां जहां सम्यक्त्व है वहाँ वहां स्वानुभूति है तो यह अनुमान न बन सकेगा। इस कारण विषमव्याप्ति कही गई है। स्वानुभूति न हो वहां भी सम्यक्त्व है। तो सम्यक्त्वके होने पर स्वानुभूति हो भी और न भी हो, वह है एक उपयोग विशेष और यही बात समझानेके लिए यह कहा जा रहा है कि सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें समव्याप्ति नहीं है किन्तु विषम व्याप्ति है। इस ही बातको आगेके श्लोक में स्पष्ट किया जायगा।

तद्यथास्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥४०५॥

स्वानुभूतिपरिणमनके समय सम्यक्त्वसद्भावकी अवश्यंभाविता—उस समव्याप्ति और विषमव्याप्तिका इसमें स्पष्टीकरण किया जा रहा है। जिस आत्मामें जिस समयमें स्वानुभूति है उस आत्मामें उस समय सम्यक्त्व नियमसे है, क्योंकि बिना सम्यक्त्वके स्वानुभूति हो नहीं सकती। तो अन्वयव्यतिरेक जो बताया गया था वह सम्बन्ध निर्बाध है अर्थात् सम्यक्त्वके बिना स्वानुभूति नहीं है, सो स्वानुभूतिके चिन्हसे सम्यक्त्वकी पहिचान होती है। साधनमें अन्यथानुत्पत्ति लक्षण होना ही चाहिए याने अन्यथा अर्थात् साध्य न हो तो साधन नहीं हो सकता, ऐसे नियमको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। अन्य दार्शनिकोंने त्रैरूप्य और पांच्यरूप लक्षण बताया है। साधन सपक्षमें हो, साधन विपक्षमें न हो, साधन पक्षमें हो तो वह निर्दोष अनुमान बन जाता है, यों कहा है। लेकिन तीन बातोंके होने पर भी यदि अन्यथानुपपत्ति नहीं पायी जाती है तो वहां अनुमान सही न बन सकेगा। और कुछ दार्शनिकोंने साधनका लक्षण पांच्य रूप बताया है अर्थात् पक्ष साध्य पाये जाते हों इसे कहते हैं प्रतिज्ञा और साधन हो, उदाहरण हो, उपनय हो अर्थात् हेतुको पक्षमें दुहराया जाय निगमन हो याने उसका निर्णय बताया जाय, पक्षमें साध्यको दुहराया जाय—ये ५ रूप भी हों और अन्यथानुपपत्ति न हो तो वहां भी बात नहीं बनती है। प्रयोजन यह है कि किसी भी साध्यको सिद्ध करनेके लिए साधन भी अन्यथानुपपत्ति वाला होना चाहिए। सो यहाँ स्वानुभूतिरूप साधन अन्यथा उपलब्धिवान है इसलिए यहाँ कमजोरी नहीं है कि स्वानुभूति सम्यक्त्वका लक्षण है। सही बात

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। जहां स्वानुभूति होगी वहाँ सम्यक्त्व नियमसे होगा, इस कारणसे लक्षण तो निर्दोष है किन्तु—

यदि वा सति सम्यक्त्वे सस्याद्वा नोपयोगवान्।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोस्ति वस्तुतः ॥४०६॥

सम्यक्त्वके कालमें उपयोगवान स्वानुभवके सद्भावकी अनियमता, किन्तु लब्धिरूप स्वानुभवकी अवश्यंभाविता—सम्यग्दर्शनके होने पर शुद्ध आत्माका उपयोगात्मक अनुभवन हो भी जाय और न भी हो। यों इस सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें विषमव्याप्ति बतायी जा रही है। सम्यग्दर्शन होता है दर्शनमोहके अनुदयमें। उपशम हो, क्षय हो अथवा क्षयोपशम हो, किसी भी प्रकार उसका अनुदय पाया जा रहा हो तो वहां सम्यक्त्व होता है। तो उन ७ प्रकृतियोंके अथवा ५ प्रकृतियोंके न रहने पर उपशान्त होने पर वहां सम्यक्त्व तो होता है, सो वह सम्यक्त्व स्वानुभूतिपूर्वक ही होता है। सम्यक्त्वकी उत्पत्ति स्वानुभूतिके बिना हो नहीं सकती। तो स्वानुभूति हुई और सम्यक्त्व हो गया अर्थात् सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कालमें स्वानुभूति उपयोगात्मक रही, लेकिन सम्यक्त्व हो जानेके बाद अब कभी स्वानुभूति उपयोगात्मक हो अथवा न भी हो, यह सम्यग्दृष्टि पुरुष जब किसी अन्य पदार्थको जान रहा है, उस तरफ उपयोग है तो उपयोगात्मक स्वानुभूति नहीं है, लेकिन लब्धिरूप स्वानुभूति बराबर बनी हुई है। जैसे कोई संस्कृत विद्या सीख रहा है तो संस्कृत विद्याका उपयोग कर रहा हो तब ही तो सीखेगा। उसमें उपयोग दिए बिना तो न सीखेगा। अब वह संस्कृत विद्या सीख चुका। वह सीखा हुआ विद्वान संस्कृत विद्यामें उपयोग निरन्तर रखे अथवा नहीं, कभी वह हिन्दी निबन्ध पढ़ रहा है, कभी इंगलिश निबंध पढ़ रहा है, उस समय उसका उपयोग संस्कृतमें नहीं है, लेकिन संस्कृत की जानकारी रूप लब्धि तो उसके पड़ी हुई है। यही बात स्वानुभूतिके सम्बन्धमें है। स्वानुभूति हो तो उपयोगात्मक है तब भी सम्यक्त्व है और उपयोगात्मक नहीं है तब भी सम्यक्त्व है। इस कारण सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें विषमव्याप्ति है।

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेस्त्यवश्यतः।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥४०७॥

सम्यक्त्वकालमें लब्धिरूप स्वानुभवके बने रहनेका कारण—उक्त श्लोकमें यह बताया था कि सम्यक्त्वके होने पर स्वानुभव उपयोगवान हो भी और न भी हो अर्थात् उपयोगात्मक स्वानुभव सम्यक्त्वके रहते हुए होता भी है, नहीं भी होता है। किन्तु सम्यक्त्व के होने पर लब्धिरूप स्वानुभव अवश्य ही होता है। इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि जो यह बात कही गयी है कि सम्यक्त्व होने पर लब्धिरूप स्वानुभव अवश्य होता है तो इसमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कारण क्या है ? इसमें कारण यह है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समयमें नियमसे स्वानुभूत्यावरण कर्मका उत्कृष्ट अवस्थान्तर होता है अर्थात् क्षयोपशम होता है। सम्यक्त्वका होना, स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम होना और स्वानुभवका उपयोगवान् होना--ये सब बातें प्रारम्भ कालमें हैं। अब इसके बाद स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम और सम्यक्त्व ये तो सदा रहते हैं, किन्तु उपयोगसे स्वानुभव रहे अथवा न रहे।

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत्।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥४०८॥

सम्यक्त्व और स्वानुभवकी विषमव्याप्तिका कारण—छद्मस्थ पुरुषका ज्ञान उपयोगात्मक ज्ञान तो अनित्य है। अनित्यके मायने सदा रहने वाला है। सदा न रहनेका अर्थ यह है कि जब-जब इसका सम्यक्त्व रहता है तब-तब इसका उपयोगमय स्वानुभव रहे ऐसा नियम नहीं है। उसीको सामान्यरूपसे कहा जा रहा है कि छद्मस्थ ज्ञान छद्मस्थ जीवका उपयोगमयी ज्ञान एक-सा सदा नहीं रहता। किन्तु जो छद्मस्थ नहीं हैं, परमात्मा हैं उनमें ज्ञान नित्य रहता, एकसा रहता। जैसे केवली भगवानने जो कुछ जाना, क्या जाना ? सब जाना। उसके दूसरे समयमें क्या जाना ? सब जाना। कोई नई बात नहीं जानी गई। वहाँ तो असत् है नई बात, क्योंकि सत्को तो पहिले ही जान लिया, लेकिन अब नया क्या रह जायगा ? कुछ नहीं। तो जैसे परमात्मामें ज्ञान नित्य रहता है, उपयोगवान नित्य रहता है, इस तरह छद्मस्थका उपयोगवान ज्ञान नहीं है। हां छद्मस्थ जीवका लब्धि वाला ज्ञान सदा रहता है याने उस पीरियडमें बना रहता है। और इसी पद्धतिसे प्रकृतमें भी बात यह जानना कि सम्यक्त्वके रहते संते उपलब्धिरूप स्वानुभवकी सत्ता रहती है, पर उपयोगवान स्वानुभव कभी होता है, कभी नहीं होता है। यह प्रकरण चलता रहता है सम्यक्त्व और स्वानुभवकी समव्याप्ति और विषमव्याप्ति बतानेके लिए। उसमें यह सिद्ध किया है कि स्वानुभव सम्यक्त्व का सामान्यका साधन है अर्थात् स्वानुभव हो तो वहां समझना चाहिए कि नियमसे सम्यक्त्व है, पर सम्यक्त्वके होते हुए स्वानुभव रहा ही करे, ऐसा नियम नहीं है।

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥४०९॥

स्वानुभव और सम्यक्त्वकी विषमव्याप्तिका समर्थन—उक्त कथनको सारांश रूपमें कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन भी सामान्यमात्र होनेसे नित्य ही है अर्थात् सामान्यका अर्थ है है—यहां सदैव एक समान रहने वाला। उपयोगवान ज्ञान तो एक समान नहीं रहता सम्यग्दृष्टि के भी, किन्तु सम्यक्त्व एक समान रहता है। इस कारण उसे सामान्य मात्र कहा गया है। तो सम्यक्त्व तो है सामान्यरूप और उपयोग है विशेषरूप। स्वानुभव उपयोगवान हो, यह है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

व्याप्य, सदा काल न रहने वाला और सम्यक्त्व है व्यापक, इस कारण सामान्य और अनुभव में विषमव्याप्ति है। उपयोगकी तरह सम्यक्त्व बराबर सदा न रहे, ऐसी बात नहीं है। किन्तु सम्यक्त्व बराबर रहता है, उपयोगकी तरह बदलता नहीं और लब्धिरूप स्वानुभव भी बदलता नहीं है, इसलिए लब्धिरूप स्वानुभव और सम्यक्त्वकी तो समव्याप्ति है, पर उपयोगरूप स्वानुभव और सम्यक्त्वकी समव्याप्ति नहीं, किन्तु विषमव्याप्ति है। यहां पर यह भी जानना चाहिए कि लब्धिरूप स्वानुभव और सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है, किन्तु लब्धि रूप स्वानुभवके कारण वृत्ति और स्वरूप जुदा है और सम्यक्त्वका स्वरूप जुदा है। सम्यक्त्व तो श्रद्धा गुणका परिणमन है और यह लब्धिरूप स्वानुभव ज्ञानावरणका क्षयोपशम है तो एक साथ रहते हुए भी स्वरूप तो जुदा-जुदा ही है।

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादि विकल्पकाः।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥४१०॥

सम्यक्त्वके अन्य बाह्य गुणोंके वर्णनका संकल्प—यहाँ तक सम्यक्त्व और स्वानुभवमें परस्पर सम्बंधकी बात कही गई थी। अब इस श्लोकमें कुछ अन्य गुणोंका वर्णन करनेका संकल्प बता रहे हैं कि सम्यक्त्वके और गुण भी हैं और बाह्य गुण भी हैं, किन्तु स्वानुभूतिकी तरह जिनका अन्वयव्यतिरेक नहीं पाया जाता है, ऐसे अन्य गुण जो स्वानुभवके साथ न हों तो सम्यक् नहीं रहते। ऐसे बहुतसे गुण हैं उन गुणोंका उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा बताते हैं। इस श्लोकमें यह प्रकट किया गया है कि स्वानुभूति तो सम्यक्त्वके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध रखने वाला गुण है, किन्तु इसके अतिरिक्त और भी गुण हैं जो सम्यक्त्वके कदाचित् सूचक होते हैं, किन्तु उनका अन्वयव्यतिरेक नहीं हैं, ऐसे और गुण भी हैं जिनका उद्देश्य, लक्षण और परीक्षाकी पद्धतिसे वर्णन किया जायगा।

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्वार्थगोचरम् ॥४११॥

श्रद्धा, रुचि, प्रतीति व चरण गुणका निर्देश—अब उद्देश्यकी बात कह रहे हैं, जो सम्यक्त्वके बाह्य गुण हैं उनका यहाँ नाम बताया जा रहा है। उद्देश्य कहते हैं नाम बतानेको। क्या-क्या गुण हैं सम्यक्त्वके ? तो श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरण—ये चार गुण भी सम्यक्त्वके बताये गए हैं और आमनायके अनुसार ये तत्त्वार्थके विषयभूत हैं। इनमें यह भी प्रमाणित कर दिया गया है कि तत्त्वार्थके सम्बन्धमें श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरण हो, जिनका कि स्वानुभवके साथ संबंध है, वे सब स्वानुभूतिके सही गुण हैं, किन्तु सामान्यरूपसे श्रद्धा, रुचि आदिक हो रहे, उनका सम्यक्त्वके साथ अन्वयव्यतिरेक जैसा संबंध नहीं हो पाता, ऐसे गुण ये चार कहे गए हैं, इन चार गुणोंका अब लक्षण कहते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ।।४१२।।

सम्यक्त्वके चिह्नरूप श्रद्धा, रुचि प्रतीति व चरणका संक्षिप्त स्वरूप—श्रद्धा नाम है तत्त्वार्थके अभिमुख होने वाली बुद्धिका । तत्त्वार्थके सम्मुख जो बुद्धिका होना है वह श्रद्धा है । श्रद्धाके संबन्धमें विशेष विचार करनेपर यह विदित होगा कि जिसका ज्ञान किया है उसके अभिमुख होकर दृढ़तापूर्वक उसका परिचय हो, इसे श्रद्धा कहते हैं । और इसी आधारपर यह श्रद्धाका लक्षण किया गया है कि तत्त्वार्थके अभिमुख होने वाली बुद्धिको श्रद्धा कहते हैं । जब भी किसी चीजमें श्रद्धा होती है तो उसके लिए अभिमुख बुद्धि लगी हुई है, यह बात तो हुआ ही करती है । लौकिक बातोंमें भी जिसकी श्रद्धा पड़ी हो उसकी बुद्धि उसकी ओर अभिमुख रहती है, इसी प्रकार तत्त्वार्थके संबन्धमें भी बात है । यदि तत्त्वार्थकी श्रद्धा है तो उसके तत्त्वार्थकी अभिमुखी बुद्धि लगी हुई है, यह तो हुई श्रद्धा । और रुचि किसे कहते हैं ? तत्त्वार्थ के संबन्धमें आत्मीय भाव होना सो रुचि है । रुचि शब्दसे कुछ श्रद्धाकी अपेक्षा विशेषता बतायी गई है । ज्ञान हुआ पहिले तो फिर सामान्यतया उसमें श्रद्धा हुई, उसमें रुचि हुई । रुचि होनेपर उस बुद्धिके साथ, उस तत्त्वके साथ आत्मीयताका भाव होता है । तभी तो रुचि, राग, प्रीति वहाँ ही लोकमें उत्पन्न होती कि जिस ओर कुछ आत्मीयताका भाव है । तो तत्त्वार्थमें आत्मीय भाव होनेका नाम रुचि है । अब प्रतीतिका लक्षण करते हैं । "उस ही प्रकार है यह" इस प्रकारके स्वीकार करनेका नाम प्रतीति है, ऐसी ही है बात, जो अंतः स्वीकारताका भाव होता है, उसका नाम प्रतीति है और चरण कहते हैं उसके अनुकूल क्रिया का कारण । जैसी श्रद्धा हो वैसी रुचि हो, वैसी प्रतीति हो, फिर उसके अनुसार अपना आचरण होता है, उपयोग होता है; मन, वचन, कायकी चेष्टा होती है । यह कहलाता है आचरण । इस प्रकार ये श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरण ये चारों गुण भी सम्यक्त्वके बताये गए हैं ।

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात् ।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ।।४१३।।

श्रद्धा, रुचि व प्रतीतिकी ज्ञानपर्ययता तथा चरणकी चारित्रपर्ययता—उक्त श्लोकमें जो चार गुण कहे गए हैं उनका दो विभागोंमें वर्णन किया जा रहा है । आदिके तीन अर्थात् श्रद्धा, रुचि और प्रतीति, ये तो ज्ञानकी पर्याय हैं । श्रद्धा तत्त्वार्थके अभिमुखी बुद्धिका नाम है । यह तो स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि हाँ ज्ञानकी पर्याय है । रुचि—उस तत्त्वार्थके विषयमें आत्मीयता होना । यद्यपि शब्दार्थकी दृष्टिसे ऐसा प्रतीत होगा कि यह चारित्र गुणकी पर्याय है, तथापि इस रुचिके वेगको देखिये । रुचि होनेपर इस रुचिमें जो उस श्रद्धा किए हुए पदार्थ में आत्मीयताका भाव है वह है एक दृढ़ताका सूचक । इसलिए इसे भी यहाँ ज्ञानका पर्याय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कहा है और प्रतीति "ऐसा ही है" इस प्रकारका जो स्वीकार करना है उसे प्रतीति कहा है। तो यह भी ज्ञानकी पर्याय है। चरण—मन; वचन, कायके द्वारा सभी कामोंमें व्यापार करना यह कहलाता है चरण। यह चारित्र पर्यय है श्रद्धा हुई, रुचि हुई, प्रतीति हुई, उसके अनुकूल अब मन, वचन, कायकी चेष्टा हुई, शुभकर्ममें व्यापार हुआ, इसको कहा गया है आचरण। तो ये चारों गुण सम्यक्त्वके बाह्य लक्षण क्यों कहे गए हैं? इस बातका उत्तर अब देते हैं।

श्रद्धादिको सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण कहे जानेका कारण—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरण—ये चारों व्यस्त होकर या इकट्ठे मिलकर सम्यग्दृष्टिके लक्षण हो भी सकते, नहीं भी हो सकते अर्थात् इन चारोंमेंसे कुछ कम भी हों, ये गुण तो भी सम्यग्दृष्टिके लक्षण कहे जा सकते हैं और नहीं भी कहे जा सकते। अथवा ये चारोंके चारों भी हों तो भी सम्यग्दृष्टि के लक्षण हो भी सकते और नहीं भी हो सकते। ये चारों सपक्षमें भी पाये जाते और नहीं भी पाये जाते, विपक्षमें भी पाये जाते और नहीं भी पाये जाते। सपक्ष हुआ सम्यग्दृष्टि, विपक्ष हुआ मिथ्यादृष्टि। तो जब ये चारों गुण सम्यक्त्वमें ही पाये जाते होते और सम्यक्त्वके बिना न पाये जाते होते तब तो स्वानुभूतिकी तरह इन्हें भी अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध वाला लक्षण कहा जाता, किन्तु स्वानुभूतिकी तरह सम्यक्त्वके साथ इन गुणोंका अन्वयव्यतिरेक नहीं है। सम्यक्त्वके होनेपर भी हो जाय, न होनेपर भी हो जाय, इस कारण इन चार गुणोंको सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण कहा गया है।

स्वानुभूति सनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासानार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥४१५॥

स्वानुभूतिसहित श्रद्धादिकोंकी समीचीनता व स्वाभूतिरहित श्रद्धादिकोंकी अभास रूपता—उक्त श्लोकमें जो बात कही गयी है उसीका स्पष्टीकरण इसमें किया जा रहा है कि यदि श्रद्धा आदिक गुण स्वानुभूतिके साथ होते हैं तो ये वास्तविक गुण कहलाते हैं, जिनको सम्यक्त्वके गुण बताया जा सकता है, किन्तु स्वानुभूतिके बिना हुए ये गुण आभासरूप कहलाते हैं। जैसे मिथ्यादृष्टियोंमें ये चार गुण पाये जायें तो उनका नाम है श्रद्धाभास, रुच्याभास, प्रतीत्याभास और चरणाभास, और स्वानुभूतिके साथ हों तो ये सब गुण समीचीन कहलायेंगे। इस विवेचनसे यह ज्ञात हो गया कि सम्यक्त्वका वास्तविक चिन्ह, स्वानुभव है। स्वानुभवमें स्वकी अनुभूति है, स्वके अपने आप हुए, सहज हुए, अपनी प्रतीतिके कारण जो कुछ भी वहाँ लक्षण हुए उनकी अहंरूपसे अनुभूति होना, विकल्प न होकर भी उनका अनुभव होना स्वानुभव है। ऐसा जिनका स्वानुभव परिणमन हुआ, उनके नियमसे सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व न हो तो यह स्वानुभवकी अवस्था नहीं हो सकती। ऐसे स्वानुभवके साथ-साथ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यदि ये श्रद्धा आदिक गुण रहते हैं तब समझना चाहिए कि ये सही गुण हैं अन्यथा ये सब आभासरूप हैं।

तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत्।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥४१६॥

स्वानुभूतिमान् श्रद्धादिकोंकी सम्यक्त्वरूपता—उक्त विवेचनके सारांशरूपमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि श्रद्धा आदिक चारों ही गुण यदि स्वानुभवके साथ हों तो वह भी सम्यग्दर्शन समझा जाता है। जैसे स्वानुभवकी लब्धि सम्यक्त्वके साथ नियमसे रहती है, तब वहाँ उस लब्धि वाले स्वानुभवमें सम्यक्त्व ही है ऐसा कथन किया है। इसी तरह स्वानुभवके साथ श्रद्धा आदिक गुण यदि रहते हैं तो इन गुणोंको भी 'सम्यक्त्व है' ऐसा कहा जा सकता है, और यदि श्रद्धा आदिक मिथ्यारूप हों, स्वानुभवसे रहित हों, कभी भी स्वानुभव हुआ न हो, ऐसे जीवके ये चारों (श्रद्धादिक) सम्यक्त्व नहीं समझे जाते, किन्तु श्रद्धाभासादिक समझे जाते हैं। सम्यक्त्वका अविनाभावी गुण तो स्वानुभव है अर्थात् जो सम्यक्त्वके बिना नहीं हो सकता और स्वानुभव हो तो वहाँ नियमसे सम्यक्त्व है, ऐसा अविनाभावी गुण तो स्वानुभूति है। तो जैसे अविनाभाव होनेके कारण स्वानुभवको सम्यग्दर्शन कहा गया है उससे अतिरिक्त हम सम्यक्त्वको और कहाँ ढूंढ़ें ? भावसे भी साम्य हो गया और स्वानुभव व सम्यक्त्व दोनोंका आधार भी वही एक है। तब स्वानुभवको सम्यग्दर्शन कहा ही गया है, सो ठीक है। उसी प्रकार स्वानुभूतिके साथ यदि श्रद्धा आदिक गुण हैं तो वह भी सम्यग्दर्शन है, ऐसा समझना चाहिए। हाँ यदि श्रद्धा आदिक मिथ्यात्वके साथ हैं तो उनको सम्यग्दर्शन न कहना चाहिए, किन्तु श्रद्धाभास, रुच्याभास आदि नामोंसे उन्हें पुकारा जाना चाहिए।

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां बिना श्रद्धादिमात्रकाः।
सपक्षवद्विपक्षेपि वृद्धित्वाद्व्यभिचारिणः ॥४१७॥

समीचीन और मिथ्या इन विशेषणोंसे रहित श्रद्धा मात्र आदिकोंकी भी संदिग्धता होनेके कारण सम्यक्त्वके अविनाभावी लक्षणपनेका अभाव—उक्त कथनकी यहाँ एक निर्णयकी तरह बात एक और कर रहे हैं कि श्रद्धा आदिक गुण इनके साथ सम्यक् और मिथ्या ये विशेषण नहीं लगायें, सामान्यश्रद्धा, सामान्यरुचि इस प्रकारके जो मात्र श्रद्धा आदिक हैं वे सपक्षकी तरह विपक्षमें भी रहते हैं, इस कारणसे ये व्यभिचारी हैं, तो सम्यक्त्वको नियमसे सिद्ध करने वाले नहीं हैं। जैसे सम्यक्त्वके साथ श्रद्धा पायी जाती तो श्रद्धा सामान्यतया मिथ्यात्वके साथ भी पायी जाती। तो श्रद्धाकी साधारण मुद्रा तककर सम्यक्त्वका निर्णय कैसे किया जा सकता है, क्योंकि श्रद्धा सम्यक्त्वके साथ भी पड़ी है और मिथ्यात्वके साथ भी पड़ी है तो सामान्य श्रद्धा आदिकको न सम्यक्त्वसहित कह सकते और न मिथ्यात्वसहित। तब संदिग्ध अवस्था

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो गयी। श्रद्धा होनेपर भी सम्यक्त्व है या नहीं, ऐसा यहाँ निर्णय तो नहीं हो सकता। तो ऐसी संदिग्ध अवस्थामें वे श्रद्धा आदिक निर्णीत नहीं बन पाते। सम्यक् और मिथ्या विशेषण जिनके साथ नहीं लगे हैं, ऐसी श्रद्धाको हम क्या निर्णय दें कि वे सम्यक्त्वके लक्षण हैं अथवा नहीं। इस तरह यहाँ यह बात बतायी गई कि सम्यक्त्वके लक्षण स्वानुभव, श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और लक्षण, ये ५ हैं, लेकिन स्वानुभव तो सम्यक्त्वका अविनाभावी गुण है। उस प्रकार ये श्रद्धा आदिक सम्यक्त्वके अविनाभावी गुण नहीं हैं। स्वानुभूतिसनाथ होकर ही श्रद्धादिक सम्यक्त्वके लक्षण कहे जा सकते हैं।

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिः श्रद्धाद्वयो यतः।
मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥४१८॥

सम्यक् श्रद्धादिकोंमें ही श्रद्धादिकासंव्यवहार करनेका अनुरोध--उक्त कथनका सारांश यह है कि यदि आश्रय, रुचि, प्रतीति और चरण हमारे हैं तो सम्यक्त्वके साथ रहकर जिस तरह होना चाहिए उस प्रकार हैं तब तो ये श्रद्धा आदिक सही कहलाते हैं, परन्तु यदि श्रद्धा, रुचि आदिक मिथ्या हैं तो वे श्रद्धा आदिक नहीं रहे, याने नाम मात्रके श्रद्धा आदिक कहलाते हैं। यहाँ अब श्रद्धा आदिक गुणोंको एक सही रूपमें निरखना, इन भावोंको लेकर कथन चल रहा है। उक्त श्लोकमें एक सामान्य कथनकी बात कहते हुए व्यभिचारिता बतायी गई थी, उनकी तो सम्यक्त्वके साथ विषमव्याप्ति भी नहीं है। विषमव्याप्ति और व्यभिचरिततामें अंतर है। विषमव्याप्ति होते हुए भी इस साधनसे साध्यका अनुमान सही होता है। जैसे धूमकी अग्निके साथ विषमव्याप्ति है तो भी धूमके द्वारा अग्निका अनुमान सही होता है कि है अग्नि, लेकिन जहाँ व्यभिचारी साधन होता है, उसका साध्य हो अथवा न हो, दोनों बातें हैं। जैसे धुवाँ देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि अग्नि हो भी और न भी हो। वहाँ तो अग्नि सिद्ध होगी ही, किन्तु अग्नि देखकर धूमका सद्भाव असंदिग्ध नहीं है। इसी तरह यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि श्रद्धा, रुचि आदिक हैं तो सम्यक्त्व होता है, इस तरहसे सामान्यतया वर्णन था। अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि जो श्रद्धा आदिक सम्यक् हैं तब ही उनका श्रद्धा आदिक नाम रखें अन्यथा वे श्रद्धा आदिक ही वस्तुतः नहीं कहलाते।

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात्।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोर्थतः ॥४१९॥

तत्त्वरुचिलक्षण श्रद्धाको श्रद्धामात्रैकलक्षणता होनेसे उसके सम्यक् मिथ्या भेद होनेके अनवकाशकी शङ्काकारकी शंका---अब यहाँ शंकाकार कहता है कि श्रद्धा नाम तत्त्वरुचिका ही तो है और वह है एक श्रद्धामात्रकी बात। सही हो, गैर सही हो, ये विशेषतायें क्यों लगायी जा रही हैं? जब तत्त्वरुचिका ही नाम श्रद्धा है और श्रद्धाका लक्षण श्रद्धा करना ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है, फिर उस श्रद्धामें सम्यक् श्रद्धा, मिथ्याश्रद्धा—ऐसे दो भेदों वाली श्रद्धा क्यों कही जा रही है ? और फिर उसमें यह कहना कि जो वास्तविक श्रद्धा हो सो ही श्रद्धा है और वास्तविक नहीं है तो वह श्रद्धा भी नहीं है । यह भी कथन कैसे सही हो सकता है ? श्रद्धा है तो श्रद्धा है, ज्ञान है सो ज्ञान है । जैसे लोग ज्ञान करते हैं तो वह भी तो सम्यग्ज्ञान है । चौकी, पुस्तक आदिकको जाना तो वह भी तो सम्यग्ज्ञान है और मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत आत्मस्वरूपको जाना तो वह भी सम्यग्ज्ञान है । तो ऐसे ही श्रद्धा भी श्रद्धा ही है और श्रद्धाकी बात परखी गई वह उस प्रकार है, फिर वहाँ ये दो भेद क्यों किए जा रहे हैं कि कोई श्रद्धा गुण है, कोई मिथ्या ? अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं ।

नैवं यत: समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥४२०॥

यथार्थ श्रद्धा और स्वानुभूतिकी समव्याप्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारने जो उक्त शंका की है वह यहाँ संगत नहीं बैठती है । यह कथन भी किया गया है कि सम्यक्त्वके साथ श्रद्धा हो, उस ही का नाम श्रद्धा है, अन्यको श्रद्धा कहते ही नहीं हैं, ऐसी दृष्टि रखकर यह उत्तर चल रहा है कि श्रद्धा और स्वानुभव—इन दोनोंमें समव्याप्ति है । दोनों ही सदा साथ ही साथ रहने वाले हैं और इसी कारण अनुपलब्ध पदार्थमें श्रद्धा नहीं होती । जिस पदार्थकी उपलब्धि नहीं होती है, दृष्टिमें जो पदार्थ नहीं आया उसकी श्रद्धा कोई कैसे कोई कर लेगा ? अगर अनुपलब्ध पदार्थमें श्रद्धा होने लगे तो जो असत् हैं खरविषाण, आकाशपुष्प आदिक इनमें भी श्रद्धा हो जाना चाहिए । तो अनुपलब्ध पदार्थमें श्रद्धा नहीं होती, अर्थात् उपलब्ध पदार्थमें ही श्रद्धा होती है । अब आत्माके सम्बन्धमें यह प्रकरण निरखिये । उपलब्ध अर्थ मायने आत्माका दर्शन हुआ हो, तो जहाँ आत्माकी उपलब्धि होती है वहीं तो स्वानुभूति होती है और वहीं श्रद्धा होती है । यों श्रद्धा और स्वानुभूति दोनों एक साथ रह रहे हैं, इस कारण इनकी समव्याप्ति है, इसी वजहसे यह कहा गया है कि जो सम्यक् श्रद्धा है उसीको हम यहाँ श्रद्धा कह रहे हैं ।

बिना स्वार्थानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रत: ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धित: ॥४२१॥

स्वानुभूतिरहित तथा सुनने मात्रसे होने वाली श्रद्धामें श्रद्धात्वका अभाव—उक्त समाधानसे संबंधित ही यहाँ कुछ वर्णन किया जा रहा है कि बिना स्वार्थानुभवके जो श्रद्धा मात्र सुननेसे हुई हो अथवा श्रुतसे हुई हो तो वह श्रद्धा तत्त्वार्थके अनुकूल होने पर भी पदार्थ की उपलब्धि न होने से श्रद्धा नहीं कहलाती । यहाँ यह बात कही गई है कि शास्त्रोंको सुन लिया, आगमसे जान लिया और वह बात भी वही कही गई है जो तत्त्वार्थके अनुकूल है, वास्तविक है, मगर उसकी उपलब्धि नहीं हुई है, जिसके संबंधमें कहा गया है तो ऐसे अनु-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पलब्ध पदार्थमें श्रद्धा नहीं हुआ करती। जैसे एक दृष्टान्त पहले लीजिए कि जिसने मानो बड़वानीकी विशाल मूर्तिका दर्शन नहीं किया, पर उसने अन्य लोगोंके द्वारा उस मूर्तिके विषयमें बिल्कुल सही जानकारी करली है या मानों शास्त्रोमें पढ़कर ही भली भाँति उसकी जानकारी कर लिया है, बल्कि यह समझलो कि जिसने उस मूर्तिका दर्शन कर लिया हो वह भी जितनी बातें उसके संबन्धमें न बता सके उससे अधिक स्पष्टरूपसे वह बता देगा, पर जब तक वह उस मूर्तिके साक्षात् दर्शन न करले तब तक उसका ज्ञान वास्तविक श्रद्धा वाला न कहलायगा। जिस पुरुषने उस बड़वानीके क्षेत्रमें जाकर उस मूर्तिका दर्शन कर लिया हो, साक्षात् दर्शन करते समय जो उसे तदाकार श्रद्धा हुई वह उसकी वास्तविक श्रद्धा कहलायगी। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि खूब समझ लेवे और जैसी वस्तु है उसके अनुकूल भी ज्ञान हो जाय तो भी अनुपलब्ध पदार्थमें जो श्रद्धा है वह श्रद्धा नहीं कहलाती। इस कथनीसे एक सम्यग्ज्ञान और असम्यक् ज्ञानका भी निर्णय बन जाता है। सम्यक्त्व होनेसे पहिले होने वाला ज्ञान ज्ञान नहीं कहा है। यद्यपि वह ज्ञान सही पदार्थके अनुरूप है, क्योंकि उस ज्ञानके सहारे ही तो चिन्तन कर रुचि, सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है। तो क्या मिथ्याज्ञानसे या आत्मस्वरूपसे विपरीत ज्ञानसे चलकर सम्यक्त्व बन जायगा? तो हुआ है सही ज्ञानसे सम्यक्त्व याने आत्मस्वरूपका जो अनुभव किया जाता है उस अनुभवके लिए जो ज्ञान प्रवर्ता है वह सही ज्ञान प्रवर्ता है, लेकिन अनुपलब्ध है इस कारण इस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नहीं कहा है और जिस ही कालमें उसका अनुभव होता उपलब्धि हो जाती, सम्यक्त्व हो जाता, वही ज्ञान जो पहिले था वह सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है तो इसी तरह सुननेसे या आगमसे जो ज्ञान किया है वह वस्तुके अनुकूल हो तो भी स्वार्थानुभूतिके बिना वह श्रद्धा श्रद्धा नहीं कहलाती।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत्।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥४२२॥

अनुपलब्धिवत् सामान्योपलब्धिकी सम्यक्त्वमें अप्रयोग्यता—उन्मत्त पुरुषकी तरह सत् पदार्थ और असत् पदार्थकी सामान्यरूपसे कोई लब्धि बन रही हो तो वह वास्तवमें उपलब्धि नहीं कहलाती, किन्तु वह भी उपलब्धिकी तरह अनुपलब्धि ही है। जैसे कोई पागल पुरुष कभी माँ को माँ कह देता है और पत्नीको पत्नी कह देता है और वही कभी माँ को पत्नी और पत्नीको माँ कह देता है, ऐसा पुरुष किसी समय यदि माँ को माँ ही कह रहा है तो भी वह अनुपलब्धिकी ही तरह है। अर्थात् जैसे माँ को पत्नी कह डाला उसी तरह माँ को माँ कह देनेकी बात है, क्योंकि उसके विषयमें उसका कोई निर्णय ही नहीं पड़ा है। ऐसे ही कोई पुरुष कभी सत्को सत् भी कह दे और कभी असत्को सत् कह दे तो जिसके कोई निर्णय नहीं पड़ा है वह अटकलपच्चू कुछ कह देता है तो उसकी वह श्रद्धा न कहलायेगी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और न उपलब्धि कहलायगी, और इसी तरह जब तक उपलब्धि नहीं हुई है तब तक तत्त्वार्थ के अनुकूल भी बात कर रहे हैं मगर भीतरमें तो वह दृढ़ता तो नहीं पड़ी है, साक्षात्करण तो नहीं बना हुआ है। इस कारण तत्त्वार्थके अनुकूल वह ज्ञान हुआ, श्रद्धा हुई, लेकिन उपलब्धि न हो तो उसे श्रद्धा नहीं कहा गया है।

ततोऽस्ति यौगिकी रूढ़िः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥४४३॥

स्वानुभूतिसहित श्रद्धाकी यौगिकी व रूढ़ि दोनों पद्धतियोंसे सम्यक्त्व लक्षणरूपता—उक्त कथनका सारांश इस श्लोकमें कहा जा रहा है कि सम्यक्त्वका जो लक्षण श्रद्धा कहा गया है वह श्रद्धा रूढ़िसे भी सम्यक्त्वका लक्षण बनती है और यौगिकी रीतिसे भी बनती है, याने श्रद्धा गुण सम्यक्त्वका लक्षण है, सो यह लक्षण रूढ़िसे भी समझना और वस्तुतः भी समझना। स्वानुभूति सहित है वही श्रद्धा है। जब यह बात मान ली गई है तो यथार्थतया भी सम्यक्त्वका लक्षण बन गया और रूढ़िसे लौकिक जन कहते हैं उस ढंगसे भी बन गया। उस ढंगसे तो बनता ही था, उस पर ही तो चर्चायें चल रही हैं, लेकिन जब यह सम्मत हो गया कि स्वानुभूति सहित जो श्रद्धा है उस ही का नाम श्रद्धा है तब तो यह यौगिकी रीति से भी सम्यक्त्वका लक्षण निर्णीत किया है। बहुत कुछ सुन समझ करके युक्तियोंसे, गणितसे सब ढंगोंसे खूब तत्त्वका निर्णय किया गया है, लेकिन उस तत्त्वकी साक्षात् उपलब्धि न हो तो उसे श्रद्धा नहीं माना गया है। जैसे अमेरिका रूस आदिक विदेशमें जो पुरुष नहीं गया वह भी वहां की सही बात बता देता है और ऐसी-ऐसी बातें इस-इस ढंगसे बता देता है कि जैसी बातें वहां जाकर साक्षात् देखकर आया हुआ व्यक्ति भी न बता सके। कैसे पहाड़, कैसी नदी कैसे लोग, कैसा आचरण, कैसी संस्कृति, कैसी भाषा, इन सबका वह स्पष्ट रूपसे वर्णन कर देगा, पर वहां वह गया नहीं है। इतना साक्षात् वर्णन करने पर भी श्रद्धा न कही जायगी। वहां जाकर देखे। उन सबका चीजोंका साक्षात्कार करे उस समयकी श्रद्धामें और उससे पहिले की श्रद्धामें कितना अंतर है ? यह मानो ऊपर ही ऊपर ज्ञान बना हुआ है और वहां मजबूती से अन्तरङ्गमें उतारते हुए ज्ञान बना है। तो इसी तरह इस आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें भी उपलब्धि होकर जो श्रद्धा बनी वही वास्तविकी श्रद्धा कहलाती है।

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥४२४॥

प्रशमादिक अन्य गुणोंकी सम्यक्त्वबाह्यलक्षणता—यहां तक सम्यक्त्वके लक्षणोंमें मुख्य लक्षण स्वानुभूति बतायी गई है, जिसके साथ सम्यक्त्वका अविनाभाव है और उसके पश्चात् फिर श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरण—इन चार गुणोंका वर्णन किया है। इसके वर्णनमें यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बताया है कि सामान्यतया तो यह सम्यक् भी हो सकता, मिथ्या भी हो सकता। इस कारण स्वानुभव सहित यदि ये गुण हों तो सम्यक्त्वके लक्षण हैं और स्वानुभूतिके बिना ये गुण हों तो वे सम्यक्त्वके लक्षण नहीं हैं। इसके पश्चात् इन चार गुणोंके संबंधमें यह कहा गया कि वास्तवमें ये चारों गुण सही तब कहलाते हैं जब स्वानुभूतिके साथ हों और इस तरह इन्हें सम्यक्त्वका सही लक्षण कहा है। इन ५ गुणोंके वर्णनके पश्चात् अब इस श्लोकमें कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टिके प्रशम संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य नामक गुण भी है। ये बाह्य दृष्टि से सम्यक्त्वके लक्षण हैं, इसका भाव है कि यदि ये सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं तब तो प्रशम आदिक सही लक्षण हैं, यदि सम्यग्दर्शनके अविनाभावी नहीं हैं तो ये सम्यक्त्वके लक्षण नहीं कहलाते। प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य ये चार गुण सम्यक्त्वके बिना भी हो सकते हैं क्या ? और हो सकते हैं तो उनकी पद्धति क्या है ? इसका वर्णन स्वयं आगेके श्लोकोंमे किया जायगा, पर संक्षेपमें इनका सामान्यतया यह लक्षण जानें कि कषाय शान्त हों, मंद हों तो वह प्रशम कहलाता है। संसारसे विरक्ति हो, धर्मात्माओंमें प्रेम हो तो वह संवेग कहलाता है, और प्राणियोंपर दया हो तो यह अनुकंपा है और लोक परलोक आत्मा आदिकको माने तो यह आस्तिक्य है। तो ये चारों बातें किसी विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टिके भी संभव हो जाती हैं। इस कारण इन्हें बाह्य लक्षण कहा है कि इन चारोंके होनेपर भी सम्यक्त्व हो अथवा न हो। तो इन चारों गुणोंके संबंधमें वर्णन किया जायगा तो उनका निर्देशरूप वर्णन इस श्लोकमें किया गया है।

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणक्रमात्।
अनुकंपा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥४२५॥

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्यका निर्देश—सम्यग्दृष्टिके जो प्रशम संवेग आदिक चार गुण हैं इस प्रकार संकेतरूपमें उक्त श्लोकमें कहा गया है, उन्हीं चार गुणोंके नाम यहाँ दिए जा रहे हैं। सम्यग्दृष्टिका प्रथम गुण प्रशम है, दूसरा गुण संवेग है, तीसरा गुण अनुकंपा है, चौथा गुण आस्तिक्य है। इन चारोंका क्या लक्षण है और उनमें क्या विशेषतायें हैं ? इसका स्पष्टीकरण आगेके कथनमें किया जायगा, पर शब्दार्थकी दृष्टिसे यहाँ निरखें तो प्रकृष्ट रूपसे शम होना प्रशम कहलाता है। कषायोंका शमन हो, कषाय मंद हो, इसका नाम प्रशम है। संवेग–धर्मात्मामें, धर्मफलमें, धर्ममें अनुराग हो, भली प्रकार संसारसे विरक्ति हो, निवृत्ति हो, इसका नाम संवेग है। अनुकंपा—कोई जीव दुःखी हों, भूखे हों, रोगी आदि हों तो उनको देखकर खुदमें भी एक प्रकारका कंपन हो पड़े, उनके प्रति दयाका भाव उमड़ पड़े, यह है अनुकम्पा। और आस्तिक्य—अस्ति, ऐसी जिसकी बुद्धि होती है उसे कहते हैं आस्तिक्य। और आस्तिकके भावको कहते हैं आस्तिक्य। जो पदार्थ जैसा है उसको उस तरहसे मान लेना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इसका नाम आस्तिक्य है। कहीं आस्तिक्यका यह अर्थ नहीं है कि जैसा सब मत वालोंने प्रायः कह डाला है कि जो मेरे धर्मको माने सो आस्तिक और जो मेरे धर्मको न माने सो नास्तिक। इस आस्तिक शब्दमें यह बात पड़ी ही नहीं है। वैसे तो एक आस्तिक्य शब्द आया है। पदार्थ जो जैसा है उस प्रकार मान लें तो वह कहलायगा आस्तिक और वैसा न माने तो वह कहलायगा नास्तिक। आत्माका जो स्वरूप है, जहां रहता है, जिस परिणतिमें है, जिन गुणों स्वरूप है उस ढंगसे मानें तो वह आस्तिक है। और मेरे आगममें लिखा है, इस कारण ऐसा मानना चाहिए और ऐसा माने सो आस्तिक है, न माने सो वह नास्तिक है, इस तरह आस्तिक और नास्तिकका अर्थ इन शब्दोंमें नियत नहीं है। तो ये चारों गुण प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य—ये सम्यग्दृष्टि जीवके बताये गए हैं। इनका लक्षण अब क्रमशः आगेके श्लोकों में कहा जायगा।

प्रशमो विषयेषूच्चैर्मानक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥४२६॥

विषयकषायोंमें मनकी शिथिलतारूपमें प्रशमभावकी व्यक्ति—सम्यग्दृष्टिके जो अभी ४ गुण कहे गये थे—प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य, उनमेंसे प्रशमका लक्षण कहा जा रहा है। विषयोंमें और क्रोधादिक कषाय भावोंमें, स्वरूपमें मनका शिथिल हो जाना प्रशम कहलाता है। विषयकषायके भाव भी अनेक प्रकारके हैं और कषायें असंख्यात लोकप्रमाण हैं, उनमें मनका शिथिल हो जाना सो प्रशम कहलाता है। इसी प्रशम भावकी प्राप्तिके लिए स्तुतिमें कहते हैं कि "आतमके अहित विषयकषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।" यह प्रशम भावना है। विषयोंमें और कषायोंमें दोनोंमें ही मनका शिथिल होना प्रशम कहलाता है। विषय और कषायका परस्पर संबंध है, कार्यकारणभाव है। विषय कषायके लिए कारण है और कषाय विषयके लिए कारण है अथवा विषयकषाय कोई जुदे-जुदे भाव नहीं हैं। उनको एकमें ही मिला दीजिए। यह तो पद्धति परिणति निरखकर इनके दो प्रकार बना दिए गए—विषय और कषाय। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—इन इन्द्रियके विषयोंमें प्रीति जगना, विषयोंमें प्रवृत्ति करना सो तो विषय कहलाता है। यह विषय तो लोभ कषायका ही अंग हुआ और इन्द्रियके विषयोंसे जो प्रीति जगती है, सुहावना लगता है। इन विभावोंको छोड़कर बाकी सारे विभाव कषाय कहलाते हैं। इन विषय और कषायोंमें सम्यग्दृष्टिका मन शिथिल हो जाता है। जिस ज्ञानी पुरुषने भली प्रकार तत्त्वका निर्णय किया है कि यह इन्द्रियज ज्ञान ये इन्द्रियज सुख बड़े पराधीन हैं, नोकर्म भी चाहिए, भावकर्म भी चाहिए, कर्मबन्ध भी चाहिए आदि कितनी-कितनी प्रकारकी पराधीनतायें हैं, तिसपर भी ये आकुलताओंसे भरे हुए हैं। जिनमें सार रंच नहीं है, जिनमें झुलसकर यह संसारी प्राणी जन्म

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मरणका संकट प्राप्त कर रहा है, ऐसा तत्त्वनिर्णय जिसके हुआ है और साथ है, इन सब विभावोंसे निराले शुद्ध ज्ञानमात्र भावका अनुभव हुआ है ऐसे प्राणियोंका मन विषय कषायों में शिथिल होगा ही। तो सम्यग्दृष्टिका यह प्रथम गुण है कि उनका मन विषय और कषायों में शिथिल हो जाता है।

सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्।
तद्वाधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥४२७॥

कृतापराध पुरुषोंके विषयमें भी वधादिविकारके लिये बुद्धि न जगने रूप समीचीन भावके रूपमें प्रशमगुणकी अभिव्यक्ति—अब इस श्लोकमें प्रशमगुणसे जो व्यक्तकाम होता है उसको बतानेके लिए प्रशमका एक दूसरा चिन्ह कहा जा रहा है। जिन जीवोंने अपने साथ कोई नया अपराध किया हो या बारबार अपराध किया हो अथवा किसी भी समय अपराध किया हो तो भी उन जीवोंके सम्बन्धमें उनके मारने आदिक विकारोंके लिए बुद्धि न जगना, सो प्रशम नामका गुण है। जिस जीवको सर्व जीवोंके उस शुद्ध तत्त्वका स्वरूपका बोध हो गया है, सभी जीव प्रभुके समान शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं अर्थात् चैतन्यस्वभाव वाले हैं, इस द्रव्य में कोई अपराध नहीं पड़ा है, इस द्रव्यमें केवल एक सहज ज्ञानस्वरूप ही भरा हुआ है, ऐसे इन सब जीवोंको जिसने निरखा है ऐसा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष कदाचित् किसी कषायवान जीवके द्वारा उपद्रुत भी हो जाय तो भी वह बध आदिकका भाव चित्तमें नहीं लाता है और न यह भी बात चित्तमें लाता है कि यह बरबाद हो जाय, नष्ट हो जाय। किसी भी प्रकारकी दुष्प्रक्रियाका भाव नहीं लाता है तो यह उसका एक प्रशम गुण है। इस प्रशम गुणके प्रसादसे ये ज्ञानी सम्यग्दृष्टिजन तत्काल भी सुखी रहते हैं और आगामी कालमें भी सुखी रहते हैं और यह भी है प्रशमका बाह्य चिन्ह कि कोई मनुष्य बारबार अपराध करे तब भी उन जीवोंके बध आदिकके विकारकी बुद्धि न जगे, उसे कहते हैं प्रशमगुण। कोई किसी का कुछ न कर सके और शान्त रह जाय, यों तो वह प्रशम नहीं कहलाता, किन्तु उसके वध आदिक बरबादीके लिए भाव भी न उठे उसका नाम प्रशम गुण कहलाता है।

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम्।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंशतः ॥४२८॥

प्रशमगुणकी अभिव्यक्तिका कारण—इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि प्रशम गुण उत्पन्न होनेका कारण क्या है? अर्थात् विरोधी जीवोंपर भी क्षमाभाव करनेकी बुद्धि होनेका, उनके बध आदिककी बुद्धि न करने का कारण क्या है? वह कारण है अनन्तानुबंधीका अनुदय और शेष बची हुई कषायोंका आंशिक मंदोदय। इसी कारणसे इस तत्त्वज्ञ आत्माका मन विषय कषायोंमें शिथिल भी हो गया है। जिस जीवके तत्त्वज्ञान हुआ है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वानुभूति प्रकट हुई है, मिथ्यात्वका बंध कराने वाली अनन्तानुबंधी कषाय हो ही नहीं सकती तो ऐसी अनन्तानुबंधीका तो हो अनुदय और साथ ही शेषकषायोंका हो आंशिक मंदोदय, तब यह प्रशम गुण प्रकट होता है। यहाँ एक अविरत सम्यग्दृष्टिको भी उदाहरणमें लें तो उसके जो प्रशमगुण उत्पन्न हुआ है उसका कारण है अनन्तानुबंधी कषायका अनुदय और अप्रत्याख्यानावरण आदिक कषायोंका आंशिक मंदोदय। इस तरह यह विदित होता है कि प्रशमगुण व्यक्तरूपमें उसके होती है जिसके अन्दर अन्य कषायोंका भी मंद उदय हो। यद्यपि श्रद्धासे, अन्तरङ्गसे अनन्तानुबन्धी कषायके मिट जाने पर उसका प्रशम गुण बनता है, लेकिन जिस कालमें शेष कषायोंका मंद उदय है तो उसका व्यक्त रूप भी बर्तने लगता है। यों तो प्रशमगुणके विकासके लिए कारण है यहाँ अनन्तानुबन्धी कषायका अभाव। ऐसे कितने ही पुरुष होते हैं अथवा साधुवोंमें भी हो सकते हैं कि जिनके अनन्तानुबंधी कषायका तो अनुदय नहीं है, उदय है, मिथ्यात्व बसा हुआ है, और अनन्तानुबन्धीका भी मंद उदयमें अन्य कषायें भी उसीके अनुकूल कुछ मन्द चल रही हैं तो उसके बहुत बड़ी समता हो जाती है, शत्रु मित्रको व्यावहारिक ढंगसे एक समान मानता है और उपद्रव करने वाले की बरबादी भी नहीं करता है और अन्तः सम्यक्त्व न जगनेके कारण उसके भी प्रशम गुण वास्तवमें नहीं कहा जा सकता। अनन्तानुबंधीका अनुदय होनेसे यह प्रशमगुण सहज ही प्रकट होता है।

आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥४२९॥

किसी सम्यग्दृष्टिके विपाकवश आरम्भादि क्रिया होनेपर भी अकाम होनेके कारण प्रशमक्षतिका अभाव—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके दैवयोगसे कोई आरम्भादिक क्रियायें भी बन पड़ें अर्थात् प्रयोजनवश या चारित्र मोहनीयके विपाकके कारण कुछ आरम्भादिक क्रियायें भी यह ज्ञानी पुरुष करे तो भी इच्छाके न होनेके कारण वे आरम्भ आदिक क्रियायें हो रही हों तो भी अन्तरङ्ग शुद्धि पड़ी हुई है, इस कारण उसके प्रशमगुणका नाश नहीं होता। यहाँ थोड़ी यह आशंका हो सकती है कि कोई पुरुष आरम्भ आदिक क्रियायें करेगा तो क्या इच्छा के बिना करेगा? कोई सम्यग्दृष्टि गृहस्थ पुरुष दुकानपर जायगा तो क्या वह बिना इच्छाके जाता है या वहाँ ग्राहकोंसे व्यापार करता है तो क्या बिना इच्छाके ही अरहंतकी तरह रहता हुआ कर रहा है? क्या उसकी यह इच्छा नहीं है कि काम चले, कुछ लाभ मिले? तो उसके उत्तरमें यह कहा जायगा कि चारित्रमोहके उदयमें इच्छा क्यों नहीं होती? फिर उदय किसका नाम है? समाधान—इच्छा भी हुई, प्रवृत्ति भी हुई, लेकिन अन्तरङ्गमें इच्छा नहीं है। इसके लिए थोड़ा अपनी कुछ भली घटनाओंका विचार करें तो किसी समय ऐसा लगता है कि यहाँ दो मन हो रहे हैं, एक आत्मामें दो मन बन रहे हैं। एक मन कह रहा है कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसा पापकार्य न करना और एक मन कुछ उलझनवश, कुछ परिस्थितियोंवश विवश होकर उस कार्यको करनेके लिए थोड़ा प्रवृत्त होता है। तो वहाँ यद्यपि मन दो नहीं हैं किन्तु विचारोंकी विचित्रता देखिये कि भीतरमें तो शुद्ध भाव पड़े हुए हैं और कारणकलापके कारण बाहरमें कुछ प्रवृत्ति चल बैठती है, तो इसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुषको भी समझिये कि जिसके मिथ्यात्व नहीं रहा, सम्यक्त्वका अभ्युदय हो गया है वैसी भीतरमें निर्मलता जगी है, उस निर्मलताके कारण अब सांसारिक किसी भी बातमें उसकी इच्छा नहीं चलती है। भीतरमें इच्छा न होने पर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसा बाध्य करती हैं कि उसे आरम्भ आदिक कार्य करने पड़ते हैं, तो ऐसे आरम्भ आदिक कार्य करते रहने पर भी उस ज्ञानीके प्रशम गुणका अभाव नहीं हुआ है, वह प्रशम तो बना ही हुआ है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः।
अन्यत्र प्रशमम्मन्योऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥४३०॥

प्रशम और प्रशमाभासकी स्वरूपरचनाका आधार सम्यक्त्व सनाथत्व व सम्यक्त्व राहित्य—अब इस श्लोकमें उक्त विवरणके निष्कर्षरूपमें प्रशम और प्रशमभावकी बात बतला रहे हैं। सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभूत जो प्रशम होता है वह तो वास्तविक प्रशम है अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ-साथ जो कषायोंका शमन रूप गुण है वह तो है वास्तविक प्रशम और सम्यग्दर्शनके बिना या मिथ्यात्वके रहते हुए जो प्रशमगुण हुआ उसको प्रशमाभास कहते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शनके अभावमें प्रशमगुण नहीं कहला सकता है। यहाँ चाहिये मोक्ष मार्ग और वह क्यों चाहिये? मुक्ति पानेके लिए। मुक्तिका अर्थ है कि संकल्प, विकल्प, विचार, तरंग, विभाव न रहें। और इसके कारण गतिभ्रमण मिटेगा, कर्मक्षय होगा। तो जिन विभावोंसे जिन विकल्पोंके कारण इस संसारमें आकुलता है वे विभाव न रहें उसे कहते हैं मुक्ति। उस मुक्तिमें ही परमकल्याण है, अनाकुलता है, इस कारण उस मुक्तिके मार्गपर चलना चाहिए। तो मुक्तिके मार्गपर चलनेका जिनका भाव बना है और चल रहे हैं ऐसे पुरुष कषायोंका शमन चाहेंगे। परिस्थितियाँ कुछ शान्त कर दें या कुछ बाहरी वातावरण ऐसा मिल जाय कि जिससे शान्ति रहे। ऐसी शान्तिमें वह सन्तुष्ट नहीं होता है। वह सन्तुष्ट होता है मौलिक शान्तिमें, सहज शान्तिमें और ऐसी शान्ति, ऐसा प्रशम सम्यक्त्वके साथ ही हो सकता है, अतएव बताया है कि सम्यक्त्वके साथ जो अविनाभावी है वह सम्यक्त्वके बिना नहीं होता। ऐसा जो प्रशम गुण है वह तो वास्तवमें प्रशम और सम्यक्त्वके बिना जो प्रशम होता है उसे प्रशमाभास कहते हैं। आभास उसीमें लगाया जा सकता है जहाँ भिन्नता ताड़ना बड़ी कठिन होती है। सच्चे मोती और झूठे मोती (मुक्ता व मुक्ताभास) मिले हों, कोई सच्चे मोतियोंमें झूठे मोती मिलाकर बेचना चाहे तो क्या वह कंकड़ या कोई मिट्टीके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कण या कोई पत्थरका टुकड़ा मिलाकर बेचेगा। अरे वे झूठे मोती तो वैसे ही देखनेमें लगने चाहिएँ जैसे कि सच्चे मोती। उन सच्चे और झूठे मोतीकी परख यों ही सुगमतासे नहीं की जा सकती।। उसके लिए तो कोई बड़ा ही पारखी होना चाहिए। वही सच्चे मोती और झूठे मोतीको अलग-अलग कर सकता है। तो यों ही इस प्रशम भावमें भी बहुतसे गुण हैं। उसमें विषयोंका निग्रह है, इन्द्रियोंका दमन है, यह किसी पर क्रोध नहीं करता, शत्रुसे अप्रीति नहीं करता। इतना होनेपर भी एक सम्यक् ज्योति न होनेके कारण वह सब प्रशम नहीं कहलाता है, वह प्रशमाभास कहलाता है। तो प्रशम और प्रशमाभासका अन्तर परखना बाहरकी परीक्षासे अशक्य है। उसके तो अन्त: परीक्षा होती है। जैसे सच्चे और झूठे मोतीकी परीक्षा ऊपरी ढंगसे अशक्य है, जो पारखी है, जो उसके भीतरी मर्मको जानता है वही परख सकता है। तो प्रशमाभास भी ऊँचा परिणाम है, लेकिन सम्यक्त्वके बिना वह प्रशमाभास है और प्रशम गुणके सामने वह उत्कृष्ट चीज नहीं है।

संवेग: परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित:।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥४३१॥

धर्म व धर्मफलमें परमोत्साह, साधर्मियोंमें अनुराग व परमेष्ठियोंमें प्रीति होने रूप भावमें संवेग गुणकी अभिव्यक्ति—प्रशम गुणका लक्षण करनेके पश्चात् इस श्लोकमें संवेग गुणका लक्षण किया जा रहा है। संवेग नाम है परम उत्साहका। संवेग शब्दमें सम् और वेग ऐसे दो शब्द पड़े हैं। सम् मायने भली प्रकार, वेग मायने उत्साह। परम उत्साह होनेका नाम संवेग है। किसमें?····धर्ममें, धर्मफलमें परम उत्साह होनेका नाम संवेग है। धर्म है रत्नत्रय रूप परिणाम। आत्माके सहज शुद्ध स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान उसमें आचरण यह तो हुआ धर्म और धर्मफल है मोक्ष कैवल्य अवस्था। उस कैवल्यकी दृष्टि की जा रही है, उसमें उत्साह जग रहा है। देखिये—जब कि मिथ्यादृष्टियोंको बाहरी वैभव बढ़ानेमें उत्साह जग रहा है, इतनी कंपनी खोल दिया, इतना व्यापार कर लिया, इतनी बिल्डिंग बना ली आदि जब बाह्य वैभवों के विषयमें उत्साह जा रहा है, दूकान करता है तो उत्तरोत्तर उसमें वृद्धि होती है, उत्साह जगता है, और यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवको देखो—ज्यों-ज्यों अपने आत्मामें विकास करता है, प्रयोग कर-करके अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपके स्पर्शके लिए जो-जो प्रयत्न करता है उन प्रयत्नोंमें सफलता मिलती है कुछ-कुछ, तो उसके प्रति बड़ा उत्साह, बड़ा हर्ष जगता है। तो ऐसे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि धर्मात्माका जो धर्मफलमें परम उत्साह होता है वही है उनका संवेग गुण, अथवा साधर्मी जनोंमें अनुराग जगना अथवा सम्यग्दृष्टिमें प्रीति जगना, यह भी संवेग कहलाता है। साधर्मी जनोंमें अनुराग उनको ही जगेगा जिनको धर्मसे प्रीति जगी हो। जिस पुरुषको धर्म-भावमें निष्कपट आत्महित बुद्धिका अनुराग जगा हो उस पुरुषको साधर्मीजन दिखें, उनका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सत्संग हो तो वहाँ अनुराग न जगे, यह बात हो नहीं सकती, क्योंकि उसे यह निर्णय है कि जैसे इस धर्मदृष्टिके कारण मेरेमें एक पावनता आ रही है, पवित्रता आती है, आ सकती है, पवित्र भाव है, ऐसा ही पवित्र भाव तो इसका है। उनकी पवित्रताका स्मरण जो रखता है उसे साधर्मियोंमें अनुराग न जगे, यह कैसे हो सकता है ? और लौकिक रीतिसे भी एक बात का विचार करें। यहाँ धनी लोग धनी पुरुषोंसे अनुराग भी रखते और ईर्ष्या भी रखते। ईर्ष्या क्यों होती है कि एक तो जब उनके चित्तमें यह बात समायी हुई है कि उसका व्यापार बढ़ रहा है तो हमारा व्यापार इसके मुकाबलेमें घट जायगा, दूसरे यदि इसका धन हमारेसे बढ़ जायगा तो इसकी प्रतिष्ठा बढ़ जायगी, मुझे फिर इसके मुकाबलेमें कौन पूछेगा ? तो किसी धनिकको किसी अन्य धनिकसे प्रेम कब जगता है जब कि व्यापार इस ढंगका हो कि परस्पर सहयोग वाला हो। अब जरा धर्मात्मा और धर्मात्माओंके व्यापारमें यही पद्यति देखिये। यह धर्मात्मा पवित्र बन जाय, और यह मोक्ष चला जाय तो क्या दूसरेका मोक्ष रुक जायगा ? फिर ईर्ष्या क्यों होगी, वह भी मुक्त हो भली प्रकार और उसको भीतरसे उत्साह हो, बहुत शीघ्र मुक्ति हो, अनन्त मुक्त हो गए हैं, मेरेको उसके मुक्त होनेसे कोई बाधा नहीं आती। तो जब किसीसे मुझमें कोई बाधा नहीं आ सकती तो फिर ईर्ष्या क्यों होगी ? दूसरी बात है प्रतिष्ठा वाली। किसीको यदि उच्च होना है, प्रतिष्ठित होना है, मुक्त होना है, त्रिभुवनपूज्य होना है तो उसके त्रिभुवनपूज्य होनेसे कहीं कुछ मेरा घट तो नहीं गया तो फिर किसीको दूसरेसे ईर्ष्या क्यों ? अरे उस दूसरेकी तरह मैं भी शुद्ध पवित्र रहूं तो यह बात मेरेको भी जग सकती है। अब दूसरा विभाग देखिये—परस्परका सहयोग। जैसे धनिकोंको भी परस्परमें अनुराग होता है ऐसे ही इस सम्यग्दृष्टि पुरुषका तो परमसहयोग है, अतएव एक धर्मात्माका दूसरे धर्मात्मामें अनुराग होता ही है, इसको संवेग कहते हैं।

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥४३२॥

सम्यक्त्वमात्रात्माकी व शुद्धात्मानुभवकी धर्मरूपता—सम्यग्दृष्टिमें चार लक्षण जो बाह्य होते हैं वे बताये जा रहे हैं—प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य। प्रशमका अर्थ है—कषाय मंद हों, शान्त हों, कोई अपराध भी करे तो उसपर क्षमाभाव रखना यह है प्रशमभाव। संवेग—बताया गया है कि धर्म और धर्मफलमें अनुराग होना सो संवेग है। उस ही संबंधमें इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि वह धर्म और धर्मका फल क्या है ? जिसमें किया हुआ अनुराग पुरुषार्थ संवेग कहलाता है ? धर्म है सम्यक्त्वमात्र आत्मा। सम्यक्त्व स्वरूप आत्मा ही धर्म है, अर्थात् आत्माका जैसा सहज समीचीन स्वभाव है, सत्व है, बस वही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्माका धर्म है । सम्यक्त्व गुणमें कोई बाहरकी विधि वाली बात नहीं है अथवा अलगसे किसी दूसरेके द्वारा विधि वाली बात नहीं है, किन्तु ऐसी स्वच्छता जो बिगड़ रही थी कर्मोंके बिगाड़के कारण याने विघटनके कारण वह मिट गई, उसीको कहते हैं सम्यक्त्व । तो आत्मा तो सम्यक्त्वस्वरूप है, स्वच्छ स्वभाव वाला है । सो ऐसा सम्यक्त्वस्वरूप आत्मा धर्म कहलाता है, और उसका अनुभव होना, शुद्ध आत्माका अनुभव होना यह धर्मपालन कहलाता है । तो धर्ममें और धर्मके पालनमें और धर्मके फलमें अनुराग होना संवेग गुण बताया गया है । धर्म जो वास्तविक स्वरूपमें है वह तो शाश्वत है, स्वभावरूप है, उसका कहीं अभाव नहीं है । यदि धर्म न रहे तो धर्म भी सत् नहीं रह सकता । जैसे उष्णता न रही तो अग्नि किसका नाम है ? तो धर्मके बिना पदार्थका सत्त्व ही नहीं रह सकता ।

अतीन्द्रिय अक्षयसुखकी धर्मफलरूपता—आत्माका धर्म है सम्यक्त्वस्वभाव सहजस्वरूप और उसका आलंबन करना, आश्रय करना यह कहलाता है धर्मपालन । तो धर्मपालनमें अनुराग हो और धर्मफलमें अनुराग हो इसको कहते हैं संवेग । धर्मफल क्या है ? जो अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख है वह धर्मका फल कहलाता है । आत्माका जो सहज शील स्वभाव है, ज्ञानमात्र भाव है उसका पालन यदि किया गया, उसका आश्रय लिया गया, तो उसके आलंबनमें मिला क्या ? अविनाशी आनन्द । यह बात प्रयोग द्वारा बहुत सुगमतया अनुभवमें आ सकती है । आत्मा यदि अपने स्वभावका आलंबन ले, ज्ञानमात्र मैं हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, यह देश, यह कुल, यह जाति, यह काल, यह लोगोंका प्रसंग वह सब बिखरा हुआ, न्यारा-न्यारा स्वयंका स्वयंमें है । मैं इन सबसे निराला हूं । और वह हूं केवल ज्ञानमात्र, सहज ज्ञानस्वरूप । ऐसे इस आत्माका कोई आलंबन ले, आश्रय करे, दर्शन करे, इसका ही उपयोग रखे तो उस स्थितिमें इसको प्राप्त क्या होता है ? यह प्रयोग द्वारा वस्तुतः ज्ञेय है, शब्दों द्वारा भी कहा न जा सकेगा, किन्तु स्वयं ही उस प्रकारका कोई प्रयोग करे, अपने आपको उस रूपमें निरखनेका, अनुभवनेका कोई पौरुष करे तो वह समझ सकता है कि उसमें आनन्द क्या है ? उस आनन्दकी किससे उपमा दें ? जहाँ कोई आकुलता नहीं, क्षोभ नहीं रहता, ऐसे उस अनाकुल आनंदकी उपमा जगतके किन सुखोंसे दी जा सकती है ? वह तो है धर्मफल जो कि इन्द्रिय द्वारा अगोचर है, अविनाशी है और कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा वह सुख धर्मफल कहलाता है । धर्मफल पूरा तो परमात्मामें मिलता है । परमात्मा साक्षात् धर्ममूर्ति है, वह तो धर्म धर्म ही है, और वहाँ कुछ नहीं है । भगवान मायने क्या ? केवल धर्म धर्म ही रहना, सर्वत्र धर्म धर्म ही है, उसीको कहते हैं भगवान । तो वह तो धर्मफल है, अक्षय, अविनाशी अनन्त आनन्द उनके प्रकट है । उस धर्मफलमें या यह ही पौरुष द्वारा जो कुछ अनुभवमें आता है उसमें अनुराग होना इसको कहते है संवेग । यहाँ सम्यग्दृष्टिके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लक्षण बताये जा रहे हैं।

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ।।४३३।।

धर्मात्मावोंमें अनुराग होनेमें भी संवेगगुणकी व्यक्ति—संवेगके लक्षणमें यह भी बताया गया था कि धर्मात्माओंमें अनुराग करना भी संवेग है। तो धर्मभाव और धर्मफल ये तो हैं आत्माके अमूर्तभाव, उनमें अनुरागकी बात उक्त श्लोकमें कही गई थी सो तो ठीक ही है, लेकिन धर्मात्माओंमें अनुरागकी बात कैसे कही गई है ? कहाँ तो धर्म और धर्मफल, यह तो है केवल भावमात्र और धर्मात्मा यह तो जीव है, मनुष्य है, व्यवहारी है, चलता-फिरता है, वचनव्यवहार भी करता है, ऐसे धर्मात्माओंमें अनुरागकी बात क्यों बतायी गई ? उसका उत्तर इस श्लोकमें है कि धर्मात्माओंमें जो अनुराग करना बताया गया है संवेगके लक्षणमें सो धर्मात्मा जनोंमें, गुणोंके अनुरागके कारण बताया गया है, न कि वहाँ मानवमूर्तिके अनुरागकी बात कही गई। उस आत्मामें जो धर्म प्रकट है उस धर्मके प्रति अनुराग है। तो उस धर्मके अनुरागसे ही धर्मात्मा जनोंमें अनुरागकी बात कही गई है। तब जो धर्मात्मा नहीं हैं। जिनमें वे गुण नहीं पाये जा रहे हैं, फलकी इच्छासे भी अनुराग न करना चाहिए और फल की इच्छा न रखे तो भी अनुराग न रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्मसे जो रहित हैं ऐसे साधारण जन अथवा अपने आपको गुरु रूपसे प्रसिद्ध करने वाले लोग, जिसे कहते हैं कुगुरु अथवा कुदेव, उनमें कुछ धन वैभव आदिककी इच्छा रखते हुए भी अनुराग न करना चाहिए, उनसे अनुराग करके इष्टसिद्धिकी चाह करना, यह प्रकट मिथ्यात्व है। मान लो कोई कामना भी न हो, कोई वर लेनेकी इच्छा न हो तब भी अनुरागसे प्रयोजन क्या है ? क्यों अनुराग करे ? जिस पुरुषको अपने धर्ममें अनुराग हुआ है, अर्थात् आत्माका जो शाश्वत पवित्र भाव है, स्वभाव है, उसमें जिसका अनुराग हुआ है अर्थात् उसका स्पर्श करके जिसने अपनी तृप्ति पायी है ऐसा पुरुष धर्मशून्य पुरुषोंमें अनुराग क्यों करेगा ? प्रयोजन क्या है ? कहीं इससे यह बात न लेना कि इतर जनोंमें द्वेष है। प्रयोजन नहीं तो अनुराग कैसे किया जाय ? जैसे दुनियामें बहुतसे मनुष्य देश-विदेशमें पड़े हैं, उनसे हम आप कुछ व्यवहार भी नहीं करते, अनुराग भी नहीं करते या उनके प्रति द्वेषबुद्धि तो नहीं है। हाँ प्रयोजन न होनेसे अनुरागकी बात नहीं उत्पन्न होती। तो धर्मात्मा जनोंमें जो अनुराग करनेकी बात कही गई है वह गुणों के अनुरागसे कही गयी है, न कि उस मूर्तिके अनुरागसे। जिसको धर्ममें अनुराग है उसको धर्मात्मामें अनुराग है। जिसको धर्मात्मामें अनुराग है उसको उस धर्मात्माके शरीरसेवामें भी प्रीतिका परिणाम होता है, किन्तु मूल क्या है ? जितनी भी वैयावृत्तिकी प्रीति बढ़ती गई है उसका मूल है उसमें धर्मका दर्शन। उस आत्मामें भी इस ज्ञानीने धर्मका दर्शन किया है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जिससे प्रेरित होकर धर्मानुरागकी प्रेरणा पाकर वह वैयावृत्ति करता है तो साधर्मीमें अनुराग उसके गुणोंके कारण है, अतएव जो धर्मशून्य पुरुष हैं उनमें किसी फलके इच्छाके बिना भी अनुराग न करना चाहिए और फलकी इच्छासे भी अनुराग न करना चाहिए।

धर्मात्मामें अनुराग किये जानेका व धर्मशून्य पुरुषोंमें अनुराग न किये जानेके कारण का सोदाहरण विवेचन—एक स्तवनमें लिखा है कि हे भगवान ! आप अकिञ्चन हैं, आपके पास कुछ नहीं है, न धन है, न वैभव है, न सोना चाँदी है, न परिजन गोष्ठी है, न राज्य है, फिर भी आपके स्तवनसे, अनुरागसे, भक्तिसे जो कुछ मिल सकता है वह अपूर्व मिलेगा। वह बात सकिञ्चनोंसे प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् जो धनी जन हैं, राजा महाराजा हैं, सकिञ्चन हैं, जिनके पास कुछ पड़ा है उनसे वह चीज नहीं प्राप्त हो सकती है। तो मानो कोई भगवानकी ओरसे पूछ बैठा या अलंकारमें मानो भगवान ही तुरन्त कहते हैं कि जब मैं अकिञ्चन हूं तो फिर मेरी सेवासे तुम्हें मिलेगा क्या ? तो उसके उत्तरमें उदाहरण देते हैं कि देखो पहाड़ अकिञ्चन है अर्थात् वहाँ पानीका एक बूंद भी नहीं है, लेकिन नदी नाले और अच्छे हितकारी जल वहींसे तो झरते हैं, वहींसे तो जलस्रोत निकलता है, मगर जो सजल है ऐसे समुद्रसे कोई नदी नाला आदि नहीं निकलता और न हितकर पेय पदार्थ भी मिल पाता है। तो जैसे अकिञ्चन होता हुआ भी पहाड़ सुन्दर पेय जल देता है इसी तरह यहाँ देखो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जनोंको ज्ञानी धर्मात्माओंमें अनुराग बढ़ता है अथवा उस अकिञ्चन ज्ञानमूर्ति भगवानसे इतना अनुराग क्यों बढ़ा है कि उसकी प्रवृत्ति यह जाहिर करती है कि जो कुछ यहाँ धर्मात्माओंके संगसे अथवा भगवानकी भक्तिसे मिल सकता है वह बड़े-बड़े करोड़पतियोंसे अथवा बहुत बड़े धनिकोंसे भी नहीं मिल सकता है। तो अब समझिये कि धर्मात्माओंके संग का शरण कितना ऊँचा शरण है ? जो इस आत्माको भवसे पार लगा दे, ऐसा उत्साह दिलाये ऐसी प्रेरणा दिलाये, ऐसा परिज्ञान कराये, उस संगसे या उस भक्तिसे उस अनुरागसे बढ़कर किस अनुरागको बताया जायगा ? यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष धर्मशून्य पुरुषोंमें इच्छा रखकर प्रेम नहीं करते और इच्छा न रखकर भी प्रेम नहीं करते।

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥४३४॥

अभिलाषा अर्थमें अनुराग शब्दका अप्रयोग तथा संवेगका निषेधपरक अर्थ—सम्वेग बताया है धर्म और धर्मफलमें अनुराग करना, तो इस अनुरागका अर्थ क्या है ? उस अर्थको स्पष्ट करनेके लिए इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है यहाँ अनुराग शब्दका अभिलाषा अर्थ न लेना कि धर्ममें, धर्मात्मामें, धर्मफलमें अभिलाषा। या धर्मात्मामें अभिलाषाका नाम अनुराग है। यहाँ अनुरागका अर्थ अभिलाषा नहीं है, यह मुख्यतया यहाँ बताया जा रहा है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो अनुराग शब्दसे अभिलाषा अर्थ न लेना, विलक्षणभाव लेना है। विलक्षणभाव क्या है? उसको अगले श्लोकमें स्पष्ट बतायेंगे। तो अनुराग शब्दका अर्थ यहाँ अभिलाषा न लेना। और अभिलाषाका अर्थ निषेधरूपमें यह ले सकेंगे कि अधर्मकी निवृत्ति होना और अधर्मफलका निवृत्त होना अनुराग कहलाता है। अधर्म है मिथ्यात्व भाव। उनसे निवृत्त होना सो सम्वेग है। ये समस्त विकार और ये बाहरी संयोग इनसे निवृत्त होना. इनमें रुचि होना सो भी संवेग कहलाता है। तो निवृत्तिरूप अर्थ ले लीजिए और अन्य अर्थ ले लीजिए पर अनुरागका अर्थ अभिलाषा न मानना चाहिये। यदि अभिलाषा शब्दका अनुराग अर्थ न लें तो क्या अर्थ लें, इस बातको इस श्लोकमें स्पष्ट करते हैं।

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यथार्थतः।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥४३५॥

प्राप्ति और उपलब्धि अर्थमें संवेगलक्षणगत अनुराग शब्दका प्रयोग—इस प्रकरणमें अनुराग शब्द बताया गया है कि उसका क्या अर्थ लेना चाहिए, सो सुनिये—प्राप्ति और उपलब्धि ये एकार्थवाचक हैं सो अनुरागको उपलब्धि शब्दका वाच्य समझ लिया जायगा। यहाँ विधिरूपका संकेत करते हुए अनुरागका अर्थ बताया गया है, उससे यह सिद्ध होता है कि इससे ऊपरके श्लोकमें कोई निषेधरूपसे अनुरागका लक्षण कहा गया है। धर्मसे और अधर्मफलसे निवृत्त होना सो अनुराग है। सो यह संवेग शब्दका निषेधपरक अर्थ है और पहिले विधिपरक अर्थमें धर्म और धर्मफलमें अनुराग करना कहा गया है और निषेधपरक अर्थमें संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त होना, वैराग्य होना, यह बताया गया है। तो इस निषेधपरक अर्थकी आगेके श्लोकमें चर्चा की जायगी। यहाँ विधिपरक अनुराग अर्थ कहा जा रहा है। प्राप्ति कह लो, यह है अनुरागका वाच्य। इससे क्या प्रमाणित हुआ कि धर्मात्माकी, धर्मकी प्राप्ति होना, उपलब्धि होना सो अनुराग है, वही संवेग है। अब विचारिये प्राप्ति और उपलब्धि कैसे हो? दृढ़तासे उसका परिचय होनेमें प्राप्ति हो जाती है। जैसे कोई कहे कि मैंने तो इसके हृदयकी थाह पा ली, मायने उसके हृदयके भावका दृढ़ परिचय हो गया, उसे जैसी अपने पर बात बीती हो उस तरहका परिचय हो गया, इसको कहते हैं प्राप्ति। किसी धर्मात्माको निरखकर उसकी चेष्टाओंसे, उसके पूर्व सुने हुए वचनोंसे अथवा उसकी किसी भी प्रकार जो हृदयकी बात व्यक्त होती है उस ढंगसे भी उसके हृदयके भीतर पहुंचकर देखें। इसका ऐसा सुलझा हुआ भाव है, इसकी दृष्टि सदा इस शाश्वत ज्ञानस्वभावके अनुभवके लिए ही लालायित रहती है, जब ऐसी दृढ़तासे धर्मात्मा पुरुषका परिचय किया जा रहा है तो इसीको कहेंगे कि हमने धर्मात्माके आशयकी प्राप्ति कर ली है, धर्मको पा लिया है। धर्मको पानेका अर्थ है उसका दर्शन होना, उसकी दृष्टि होना, उसकी उपलब्धि होना, उस रूपसे अपने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आपमें भी अनुभव होना यही है धर्मकी प्राप्ति। स्वात्माकी उपलब्धि क्या होती है ? अपने आपका सहज स्वात्मस्वरूप अपनी दृष्टिमें दृढ़तासे आ जाय और उसे ग्रहण करके ही रह जाय बस यही मैं हूं, तो बस हो रहा है मुझमें जो कुछ सहज ज्ञान, जानन हो रहा है सहज, बिना उपयोग जुटाये, बिना कोई परिश्रम किए, बिना कोई क्षोभ लाये, मेरे स्वरूपसे स्वयं सहज जो बड़े आरामसे चल रही है वृत्ति, चले वृत्ति, यह बस कृतकृत्य हूं, इसके अतिरिक्त मेरेको और कोई करनेकी बात कुछ है ही नहीं। यह मैं हूं और यह हो रहा है, बस इतना ही मेरा समस्त सर्वस्व है, यही तत्त्व है, यही सर्वश्रेय है, यही कल्याण है, ऐसा जिसने अपने आपमें परखा उसको कहेंगे कि इसने स्वात्माकी उपलब्धि कर ली है, क्योंकि मूर्त पदार्थके ढंगसे स्वात्माकी उपलब्धि कदाचित् नहीं हो सकती। और पाने वाला कौन और लिया जाने वाला कौन ? तो यही स्वयं पाने वाला है, यही स्वयं पाया जाने वाला है। अज्ञानसे अपने आपकी सुध न थी, अपने आपका कोई भान न था। मैं क्या हूं, एकदम दृष्टि इसकी बाहरमें फैल गई थी, विह्वल, विकल हो गया था, अपने आपको यह खो ही बैठा था और यही दृश्यमान भौतिक मेरा सब कुछ है, यही घर है, यही मेरा वैभव है। मोटे रूपसे इतना भी पता नहीं पड़ता था कि यहांके मरे लोकके न जाने किस कोनेमें पैदा हो गए, फिर मेरे लिए यह वैभव क्या है, मकान क्या है ? कुछ अपने आपकी सुध न थी और जिस समागमकी प्राप्ति हुई, ऐसा वैभव ही उसे सर्वस्व लग रहा था, ऐसी दृढ़ताभरी हुई स्थितिमें था। अब मिथ्यात्व खतम हुआ, भ्रमका आवरण दूर हुआ और यहाँ अपने आपका वह सर्वस्व देख लिया तो इस ही के मायने अपने आपका पा लेना हुआ। खोया हुआ था और मिल गया, इसको पाना कहेंगे कि नहीं ? कहेंगे। तो यह आत्मा खोया हुआ था और अब मिल गया था, इसीके मायने हैं कि अपनी स्वात्माकी प्राप्ति हुई है। बस यही अनुराग संवेग कहलाता है।

नचाऽशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम्।
शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हि यो भोगाभिलाषवान् ॥४३६॥

शंकाकार द्वारा भोगातिरिक्त अन्य अभिलाषाओंकी सम्यक्त्वमें अनिषिद्धताकी आरेका—संवेगके प्रकरणमें जो अनुरागकी बात कही गई है कि धर्ममें और धर्मफलमें परम उत्साह होना, अनुराग होना सो संवेग है। साथ ही यह भी दर्शाया गया था कि इसके कोई फलकी लिप्सा नहीं होती है तो इस प्रकरणको सुनकर कोई शंकाकार यह सोच सकता है कि यहाँ केवल भोगोंमें की गई अभिलाषाका निषेध है, अन्य अभिलाषायें कर रहे तो उससे सम्यक्त्व न मिटेगा, ऐसा कोई शंका कर सकता है और जैसा प्रायः प्रसिद्ध कर दिया गया है कि धर्म धारण करके भोगोंमें अभिलाषा करना सो दोष है। निःकांक्षित अंगमें लक्षण बताया है कि धर्म धारण करके अभिलाषायें न करना, भवसुखकी इच्छा धर्मधारण करके न करना,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इसी आधारपर मानो कोई शंकाकार कह रहा है कि भोगोंकी अभिलाषाका निषेध किया गया है, अन्य अभिलाषाओंका नहीं अथवा शंकाकार कह रहा है कि देखिये शुद्धकी उपलब्धि होने पर भी जो भोगोंमें अभिलाषा रखता हो उसका निषेध है सम्वेगमें। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात्।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥४३७॥

सम्यक्त्वमें अभिलाषामात्रकी निषिद्धता—जितनी भी अभिलाषायें हैं वे सभी मिथ्यात्वसे हुआ करती हैं, इस कारणसे सभी अभिलाषायें निषिद्ध हैं। यहाँ मूलमें दृष्टि कीजिए कि जिसको विकारका लेशमात्र भी हेय समझमें आया है कि आत्मद्रव्यमें विकारोंका लेश भी न उठना चाहिए, धर्मादिक द्रव्योंकी तरह सहजस्वरूपमें ही रहना चाहिए—ऐसी जिसकी उत्कंठा हुयी है वह रंच मात्र विकारको भी नहीं चाहता। इस कारणसे कदाचित विकार कोई हों भी तो वे भी न चाहे हुए हैं। रंच भी चाह हो वहां सम्यक्त्व नहीं होता। इस बातको समयसारमें बताया है कि इच्छा ही परिग्रह है और इच्छा ही अज्ञानमय भाव है। तो जिसके अज्ञानमय भाव हो वह उसका परिग्रह हुआ। जहाँ अज्ञानमय भाव नहीं है, ज्ञानमय भाव है उसके परिग्रह नहीं कहा जा सकता। तो यहाँ परिग्रहसे मतलब बाह्यपरिग्रह न समझना और चारित्र मोहके उदयमें जो कुछ इच्छा हो उसे भी यहाँ परिग्रह नहीं कहा गया है अर्थात् जिसका निषेध किया गया है ऐसा परिग्रह उसे नहीं कहा गया है, किन्तु दर्शन मोहके उदयमें जो किसी भी परभावके प्रति लगाव होता है उस इच्छाकी बात कही गई है और वास्तवमें उसी इच्छाको ही इच्छा कहना चाहिए। जैसे जब कर्मविपाक होना है कोई वेदनाका तो शारीरिक वेदना भोगनी पड़ती है कि नहीं, लेकिन उसे क्या इच्छा कहा गया है? और कर्मोदयसे कोई रोग आ पड़े, उपद्रव आ पड़े, उस उपद्रवमें कुछ शोक होता है, विषाद होता है तो क्या उसे इच्छा कहेंगे?....नहीं। तो जैसे कर्मविपाकमें सम्यग्दृष्टि पुरुष के शोक भी हो जाय तो उसे इच्छा नहीं कहा गया है, इसी तरहसे सम्यग्दृष्टि पुरुषके कर्मविपाकवश रति भी हो जाय, इच्छा भी हो जाय तो भी उसे इच्छा नहीं कहते हैं। यहां यह बात समझना है कि मिथ्यात्वमें परभावके प्रति जो लगाव होता है उस स्थितिमें होने वाली इच्छा, उसे तो एक ओर स्थापित किया जाय और चारित्र मोहके उदयमें होने वाले विकार उन्हें एक ओर स्थापित किया जाय तो चारित्रमोहके उदयमें होने वाले विकार, जैसे विषाद हैं, शोक है इसी प्रकार इच्छा भी एक है। तो एक इच्छा तो हुई चारित्रमोहके उदय में सम्भव होने वाली, उसे तो चारित्रमोहकी श्रेणीमें रख दिया जाय और यह इच्छा हुई मिथ्यात्वमें होने वाली, इसे अलग स्थापित किया जाय तो जैसे उन शोकादिक चारित्रमोहज

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विकार होनेको इच्छा नहीं कहते, इसी प्रकार चारित्रमोहज इच्छाको भी इच्छा नहीं कहते। तो जो अनिच्छ है, ज्ञानी पुरुष है उस जीवके तो इच्छाका अभाव ही है। जैसे ज्ञानीके शोक को इच्छा नहीं कहते उसी प्रकार चारित्रमोहज इच्छाको भी इच्छा नहीं कहा जा सकता। यों ज्ञानी पुरुषके किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं रहती। केवल भोगोंकी ही अभिलाषामात्र निषिद्ध नहीं, किन्तु अपने आपमें मोक्षमें चलनेकी प्रेरणा देने वाला उत्साह शुभभाव, शुभोपयोग इसकी भी उसे इच्छा नहीं रहती, पर जिनके बिना काम नहीं चल सकता उनमें उसकी प्रवृत्ति हुआ करती है। तो जितनी भी अभिलाषायें हैं वे सभी अज्ञानरूप हैं, मिथ्यात्व से होती हैं। तब न्यायसे यह बात सिद्ध है कि जिसने तत्त्वार्थको नहीं जाना है उसने इच्छायें कीं, पर इच्छायें होनेपर भी पदार्थ नहीं मिलता है। चाह रहती है इच्छा कर रहा है, लेकिन जिसको तत्त्वार्थ नहीं प्राप्त हुआ है उसे चाह कर भी पदार्थ नहीं मिलता। तो स्वयंकी भी बात जिसे प्राप्त नहीं हुई है और स्वयंकी ही बात वह चाह रहा है तो चाह है फिर भी चीज नहीं मिलती, तब वहाँ इस चाहको भी समाप्त करना चाहें तो अपने आपके स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है।

मिथ्या सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम्।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥४३८॥

स्वार्थक्रियासिद्धिमें समर्थ न होनेके कारण अभिलाषाओंकी मिथ्यारूपता—जितनी भी अभिलाषायें हैं वे सब मिथ्या हैं, क्योंकि सभी अभिलाषायें मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होने वाली होती हैं। अभिलाषायें मात्र मिथ्यात्वकर्मके उदयसे हैं, और यहां जो चारित्र मोहज विकार है उसे अभिलाषा नहीं कहा अथवा इच्छा तो सामान्य शब्द है और अभिलाषा कोई विशेष अर्थका सूचक है और इसीलिए अभिलाषा उपसर्गपूर्वक अभिलाषा शब्द कहा गया है। तो इच्छा दर्शनमोहके उदयमें हुई उसका भी नाम हुआ और चारित्रमोहके उदयमें हुई उसका भी नाम हुआ परन्तु अभिलाषा चारित्रमोहके विकारको न कहेंगे और रूढ़िमें भी इस तरह कहा जाता है कि उसकी तो यह अभिलाषा है तो हार्दिक ढंगसे कही हुई बातको जब कहना हो तो वहाँ अभिलाषा शब्दका प्रयोग होता है। जहाँ सामान्यतया कहा हो वहाँ इच्छा शब्दका प्रयोग होता। जैसे अजी कुछ बात नहीं, वह तो हमारी इच्छा भर थी। वहाँ अभिलाषा शब्दका प्रयोग नहीं हुआ। तो अभिलाषायें सभी मिथ्या हैं, मिथ्यात्वकर्मके उदय से होती हैं और अभिलाषायें अपनी अर्थक्रियाकी सिद्धि नहीं कर सकतीं। यह बात प्रत्यक्ष से भी विदित है और युक्तिसे भी समझमें आती है। अभिलाषाकी अर्थक्रिया क्या ? अभिलाषामें जो चाहा गया है वैसे ही पदार्थका होना इसको कहते हैं अभिलाषाकी स्वार्थक्रिया। सो अभिलाषा करने पर अभिलाषामें जो चाहा गया है वैसी बात हो जाय, सो नियत नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है अथवा अभिलाषाके नातेसे असम्भव ही है। इस बातका स्पष्टीकरण आगेके श्लोकोंमें स्वयं करेंगे और वहाँ भी अभिलाषा स्वार्थक्रियाकारी नहीं है। इसको दो पद्धतियोंसे सुनना है। एक तो ऐसी मोटी पद्धतिसे कि सारी दुनियां चाहती है पर उन्हें वे चीजें मिलती नहीं हैं। यह तो हुई एक रूढ़ि पद्धतिसे और निश्चयपद्धतिसे वहाँ यह निरखा जायगा कि बड़े-बड़े तीर्थंकर जैसे महापुरुषोंके भी इच्छा स्वार्थक्रियाकारी न हो सकी, क्योंकि जिस कालमें अभिलाषारूप परिणति है उस कालमें उस वस्तुकी प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि वस्तुकी प्राप्ति होती है तो तद्विषयक अभिलाषायें हो ही न सकती थीं। तो इन दोनों पद्धतियोंसे यह सिद्ध है कि अभिलाषायें स्वार्थक्रिया करनेमें समर्थ नहीं हैं।

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥४३९॥

अभिलाषाका अभीष्टसिद्धिसे असम्बन्ध—उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि अभिलाषायें स्वार्थक्रिया करनेमें समर्थ नहीं हैं। उसके स्पष्टीकरणमें कहा जा रहा है कि कहीं पर अभिलाषाके होने पर भी हेतु न होनेसे कार्यसिद्ध नहीं होता और कहीं पर अभिलाषाके न होने पर भी हेतु हो तो वहां उस कार्यकी सिद्धि हो जाती है। यह बात कही जा रही है रूढ़ि पद्धतिसे। प्रकट दिखता है कि इच्छायें करने वाले प्रायः सभी मनुष्य हैं। तो वे जो जो इच्छायें करते हैं वे वे काम हो ही जाते हों, यह बात नहीं देखी जाती है। उनमें से कुछ ही कार्य हो पाते हैं, सो भी वे उन कार्योंके हेतु समागम मिलनेपर होते हैं और ऐसा भी निरखा जाता है कि अभिलाषायें नहीं भी रखी जा रही हैं। कोई इच्छा नहीं कर रहा है और उसे भी उस चीजकी प्राप्ति हो जाती है, इष्टसिद्धि हो जाती है अर्थात् उसके कामकी चीज प्राप्त हो जाती है। तो ऐसी अभिलाषा और अर्थक्रियामें व्यभिचार पाया जाता है। अभिलाषा होने पर भी काम नहीं होता और अभिलाषायें न होने पर भी काम हो जाता है और ऐसा व्यभिचार पाया जानेसे उक्त श्लोकमें जो यह कहा गया था कि अभिलाषायें इष्टकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं हैं, वह ठीक ही कहा गया है। अब इसी बातको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

यशः श्रीमुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत्।
नास्य लाभोऽभिलाषेपि बिना पुण्योदयात्सतः ॥४४०॥

अभिलाषा होनेपर भी अभीष्टसिद्धि न होनेके उदाहरणमें अभिलाषित श्रीसुतमित्रादिके अलाभका वर्णन—अभिलाषाके होनेपर भी इष्टसिद्धि नहीं होती है—इतने हिस्सेका इसमें उदाहरण दिया गया है। सारा संसार यश, लक्ष्मी, पुत्र मित्रादिक सभी चीजोंको चाहता है, परन्तु चाहनेपर भी उसके ऐसी अभिलाषा उठ रही है तब भी पुण्योदयके बिना कोई वस्तु

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिल नहीं सकती। दरिद्र भी यश, लक्ष्मी, पुत्र मित्रादिक सभीकी चाह रखते, धनिक लोग भी चाह रखते, पर चाह रखने पर भी पुण्योदय नहीं है तो वहाँ भी उन चीजोंकी प्राप्ति तो नहीं होती। अनेक पौराणिक दृष्टान्त तो हैं ही, लेकिन यह बात प्रत्यक्षमें ही सामने नजर आ रही है। जो लोग व्यापार करते हैं, इतना परिश्रम करते हैं वे क्या धनकी इच्छा नहीं रख रहे हैं? अरे वे तो चाहते हैं कि और अधिक धन प्राप्त हो। मगर पुण्योदय जितना है उतना उनको प्राप्त होता है, उससे अधिक प्राप्त नहीं हो सकता। जो जीव ज्ञानप्रकाशमें हैं और इन बाहरी समागमोंको कर्मविपाकवश प्राप्त हुआ समझता है उसको आकुलतायें नहीं होतीं। वह जानता है कि प्रथम तो ये समागम असार हैं और मिलते हैं ये पुण्योदयसे, तब मुझे उनके सम्बन्धमें अधिक विकल्प, विचारमें मग्न होनेकी क्या आवश्यकता है? अरे होगा तो होगा, न होगा तो न होगा। अकृतपुण्यकी कथा प्रसिद्ध है। उसके पिताने (राजाने) जब प्रजाजनोंके द्वारा उसको राज्यसे बाहर निकाल दिया तो उसके प्रेमके कारण उसकी माँ भी साथमें गई। राजाने उसके साथ बहुतसा अनाज व बहुतसा धन (अशर्फियां) गाड़ियोंमें लदा कर साथ भेज दिया ताकि वह दुःखी न रहे, पर देखिये उसके भाग्यकी विचित्रता कि सारा धन नष्ट हो गया, अनाज भी खिर-खिरकर खतम हो गया। तो पुण्योदयके बिना चाहने पर भी इष्टकी सिद्धि नहीं होती है। तो अभिलाषायें करना अनर्थ है, मिथ्या है और वह केवल अज्ञानसे उत्पन्न हुई बात है और उसमें तथ्य कुछ नहीं रखा है।

जरामृत्युदरिद्रादि नहि कामयते जगत्।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राऽशुभोदयात् ॥४४१॥

अभिलाषा न होने पर भी अशुभोदयसे अनिष्टसंयोगकी बलात् प्राप्ति—इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि अभिलाषायें नहीं भी रखी जा रही हैं जिन चीजोंकी, फिर भी उनकी प्राप्ति होती है। जैसे कोई पुरुष यह तो नहीं चाहता कि मुझे बुढ़ापा मिले, दरिद्रता मिले, दुःख मिले, पर ये न चाहने पर भी आते ही हैं। जैसे मनुष्यका शरीर है, उमर बढ़ रही है, शरीर कितना ही पुष्ट हो, कोई कितना ही बढ़िया भोजन भी करे, बड़े साधन भी बनाये, पर बुढ़ापेको कोई रोक सकता है क्या? मृत्युको कोई रोक सकता है क्या? अथवा इस आने वाली दरिद्रताको भी कोई रोक सकता है क्या? तो देखिये न चाहकर भी ये चीजें आती ही हैं। यह बात एक जो लोकमें प्रत्यक्ष दिख रही है उस ढंगसे कही हुई बात है। जो अनिष्ट है उसे नहीं चाहता है, वह भी कर्मोदयवश आना पड़ता है और जो इष्ट है, जिसे चाहते हैं वह पुण्योदय न हो तो आ नहीं सकता है। इस तरह इस श्लोकमें इष्ट और अनिष्ट की चाह और अनभिलाषामें इच्छानुकूल अर्थक्रिया न होना यह बात बताया है, लेकिन अब इष्ट-इष्टमें ही बात लगाओ। इष्ट, धन, पुत्र, मित्रादिकको कोई चाह रहा है और पुण्योदय नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है तो वह नहीं मिलता और ये धन, पुत्र, मित्रादिक जो कि लौकिक जनोंको बड़े इष्ट हैं उन्हें कोई ज्ञानी जीव नहीं चाह रहा है लेकिन जब गृहस्थीमें है, यहां रह रहा है तो ऐसी वे चीजें अनायास प्राप्त हो जाती हैं, जिनका उपयोग भी सम्यग्दृष्टि करता है। तो न चाहते हुए भी मिल जाती है और चाहते हुए भी नहीं मिलती हैं। यह हुई इष्टके सम्बन्धमें बात।

परमार्थतः इच्छाके समय इष्टप्राप्तिकी असंभवता—अब परमार्थकी बात निरखो—अभिलाषा और अभिलाषाके विषयकी पूर्ति ये दोनों कभी भी एक कालमें सम्भव नहीं हैं। इसे कहते हैं वेद्य-वेदकभाव। वेद्यभाव—जो वेदा जाय, जो इच्छा किया हुआ भाव हो सो वेद्यभाव है। वेदकभाव–भोगनेके समयका भाव वेदकभाव है। ये दो परिणतियाँ भिन्न परिणतियां हैं। भोगनेके समयका भाव और जिसके भोगनेका भाव हो रहा है उसकी चाहका भाव कि यह मुझे मिल जाय, ऐसी चाहका भाव—ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। जैसे किसी पुरुषके हाथमें १००) हैं तो वे तो हैं ही, अब क्या वह सोचता है कि ये १००) मुझे मिलें ? अरे वे तो मिले हुए ही हैं। तो जो चीज प्राप्त है उसके सम्बन्धमें इच्छा क्या उठे ? और जिसके सम्बन्धमें इच्छा उठ रही है, समझिये कि वह चीज उपलब्ध नहीं है। तब ही तो उसके सम्बन्धमें इस पद्धतिका भाव बनता है कि यह मुझे मिले। तो यों इच्छा और भोग इन दोनोंकी परिणति एक साथ नहीं होती। एक दृष्टिसे एक साथ भी है, मगर उसका विषय बदला हुआ है। निरन्तर तो उपभोग है इस जीवके और निरन्तर ही इच्छायें चल रही हैं तो कैसे कहा जाय कि इच्छाके समयमें उपभोग नहीं है ? पर उपभोग दूसरेका है और इच्छा क्या कोई दूसरेकी है ? यों निरन्तर चल रही है। जैसे १००) हाथमें हैं और इच्छा कर रहे कि हजार रुपये मिल जायें तो १००) का उपभोग भी चल रहा और हजार रुपयेकी इच्छा भी हो गई। इस तरह इच्छा और भोग एक साथ हो जायेंगे, पर उस ही विषयकी इच्छा और उसही विषयका भोग—ये दो परिणतियाँ एक साथ नहीं हो सकतीं। तात्पर्य यह है कि अभिलाषाके अनुसार कुछ होता नहीं है, इस कारण अभिलाषाका त्याग करो।

संवेगो विधिरूपः स्यान्निषेधश्च निषेधनात्।
स्यादिवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥४४२॥

संवेगकी विधिरूपता व निषेधरूपता तथा दोनोंमें अनर्थान्तरता—संवेग विधिरूप भी होता है और निषेधरूप भी। जब संवेगमें कोई विध्यात्मक भाव निरखा तब वह विधिरूप है, उसका लक्षण बताया गया है कि धर्ममें, धर्मके फलमें और परमेष्ठीमें अनुराग होना सो संवेग है और जब निषेध की दृष्टिसे देखेंगे कि उस संवेगभावमें क्या चीज नहीं रही, जिसके कारण इतनी विशुद्धि बढ़ी है ? तो वहाँ निषेधरूप स्वरूप नजरमें आयगा कि संसार, शरीर, भोगों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का राग न रहा आदिक रूपसे। तो इस तरह जो संवेगके दो लक्षण कहे जा रहे हैं वे केवल विवक्षाके भेदसे दो लक्षण हुए। वस्तुतः उनमें अर्थान्तरता नहीं है कि किसीके संसार, शरीर, भोगोंसे निवृत्ति रूप संवेग होता होगा और किसीके धर्म और धर्मफलमें अनुरागरूप संवेग होता है, लेकिन संवेगभाव जिसके है वह इसी प्रकार है कि धर्मका अनुराग होगा और संसार से वैराग्य होगा, इस कारण इन दोनों लक्षणोंमें अर्थान्तरता न समझना चाहिए।

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणातथा।
स संवेगोथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान ॥४४३॥

संवेगकी सर्वाभिलाषात्यागस्वरूपता—सर्व अभिलाषाओंका परिहार होना अथवा वैराग्य होना, सो सम्वेग है। यही संवेग धर्म कहलाता है। इस कथनसे यह निर्णय लेना चाहिए कि जो अभिलाषासहित है वह धर्मवान नहीं है। जिस पुरुषको संसारके किसी समागममें किञ्चित भी अभिलाषा है, पर श्रद्धापूर्वक अभिलाषा है तो वह धर्मवान नहीं है। यों तो चारित्रमोहनीयके विपाकमें अनेक प्रकारके विकार बनते हैं, विषाद, शोक, क्रोध आदिक उसी तरह लोभ भी होता है। इच्छा भी बनती है, किन्तु वह सब अभिलाषा नहीं कहलाती। अभिलाषा तो जो दर्शनमोहके विपाकसे उत्पन्न होती है, जिससे जीवमें परपदार्थोंके प्रति लगावकी बुद्धि जगती है उसे अभिलाषा कहते हैं। ऐसी अभिलाषा जिस पुरुषके बन रही हो वह पुरुष धर्मवान नहीं कहा जा सकता। इस तरह संवेगके लक्षणमें यह प्रसिद्ध किया गया कि रंच मात्र भी इस सम्यग्दृष्टिको अभिलाषा नहीं होती। इसी भावको लेकर समयसारमें बताया गया है कि जिसके परमाणुमात्र भी इच्छा है, परपदार्थोंके प्रति परमाणुमात्र भी परिग्रहभाव है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्योंकि परमाणु मात्र अन्य पदार्थको उसने स्वीकार कर लिया तो उसने अनात्माको भी नहीं जाना। जिसने आत्मा अनात्माको नहीं जाना उसने जीव अजीव आदिकको भी नहीं जाना। यों उसे सम्यक्त्व नहीं है जहाँ परमाणुमात्रमें भी राग बना हुआ है। तो यह राग बताया गया है श्रद्धामय राग याने परपदार्थोंके प्रति एक के प्रति भी अनुराग हो तो समझिये कि वहाँ सम्यक्त्व नहीं है, ऐसे अनेक उदाहरण थे और हैं। जैसे कोई पुरुष केवल पुरुष स्त्री ही हैं। घरमें आनन्दसे रह रहे हैं, बड़ा मौज है, किसी से विरोध नहीं, किसीको कष्ट नहीं पहुंचाते, कोई कमानेकी चित्तमें शल्य भी नहीं रखते, धर्मपालनका भाव भी रखते, ज्ञानके प्रति उमंग भी रखते, किन्तु स्त्रीमें उस पुरुषकी आत्मबुद्धि है तो उसकी वजहसे अपना शृङ्गार शोभा, भरा पूरा रहना, इस तरहका कुछ मनमें भाव बना हुआ है तो ऐसे जीवके सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि दर्शन मोहकृत अभिलाषा एक उसको स्त्री मात्रमें हो गई है। तो इस तरह अभिलाषा सम्वेग भावमें नहीं होती।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादि सद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ॥४४४॥

मिथ्यादृष्टिके रागादि सद्भाव होने, सदा अधर्मरूपता होनेके कारण क्रियामात्रमें धर्मत्वकी प्रतिषेध्यता—तो अभिलाषामें धर्म नहीं है, यह बात इस श्लोकमें बतायी गई है। अब यह बतला रहे कि जो क्रियामात्र है वह भी धर्म नहीं है। शरीरसे कोई चेष्टा हो, बचनों से चेष्टा हो, ऐसी क्रिया धर्म नहीं कहलाती, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी रागादिकका सद्भाव होने से ऐसी क्रिया चलती रहती है, तो क्या वह क्रिया धर्म हो जायगी ? जिसके रागादिकका सद्भाव है ऐसे पुरुषके तो अधर्म ही बर्त रहा है। धर्मकी तो गंध भी नहीं है, तो जो क्रियाकाण्ड है, पूजन वंदन और और भी यात्रा आदिक जो क्रियायें हैं वे क्रियायें तो इस तरह हुई हैं कि भीतरमें उस शुद्ध तत्त्वके प्रति अनुराग जगा है और उस अनुरागके कारण अरहंत सिद्ध प्रभुमें भक्ति उमड़ी है और उस भक्तिमें ये क्रियायें बन रही हैं तब तो वह सही व्यवहारधर्म है और प्रभुकी कुछ खबर नहीं है, बल्कि स्वरूप और उल्टा मान रखा है कि यह मेरे परिवारका पालनहार है, इसकी कृपासे सम्पदा आती है आदिक कोई भाव लिए हुए है वे कदाचित् भावभीने होकर भी क्रियायें करते हैं तो भी उन क्रियाओंमें कोई धर्म मिलता नहीं है। प्रथम तो ज्ञानी भी क्रियायें करता है तो कहीं क्रियाओंमें धर्म नहीं होता किन्तु ज्ञानीके चिन्तनकी दृष्टिमें धर्म पड़ा है, वहाँ उस ज्ञानीके चिन्तनका बोध न रख कर क्रियायें हो रही दिखती हैं। इस कारण क्रियाओंको धर्म कह देते हैं, पर यहाँ मिथ्यादृष्टियों के तो क्रियाओंसे धर्म कहनेकी कोई गुञ्जाइश भी नहीं है।

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥४४५॥

मिथ्यादृष्टिकी नित्यरागिता व सम्यग्दृष्टिकी अस्तरागता—मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा रागी रहता है। उसे निद्रा भी आ जाय और अचेत पड़ा हुआ है तो क्या उस समय उसको कहा जा सकता कि रागी नहीं है ? वासनामें तो भीतरमें राग बना हुआ है। कैसी है वह सुप्त दशा कि अचेत जैसा लगता। उसे भी कुछ समझमें नहीं आ रहा है, कोई विकल्प नहीं उठ रहा, लेकिन भीतर वह सब गाड़ी बराबर ज्यों की त्यों चल रही है। कर्मबन्ध होना, अध्यवसाय होना, रागादिक परिणाम होना, और कभी-कभी तो स्वप्नमें बड़े विकल्प उठते हैं, उनको भी वह अनुभव रहा है। तो जो मिथ्यादृष्टि पुरुष है, जिसका आशय मिथ्या है वह तो सदा रागी है। वह कभी रागरहित नहीं हो पाता जब तक मिथ्यात्वका सम्बन्ध है, लेकिन सम्यग्दृष्टि पुरुष तो अस्तराग है। पहिले राग था मिथ्यात्व अवस्थामें, किन्तु मिथ्यात्वका उदय होने पर राग दूर हो गया है। यहाँ जो कुछ राग शेष रहा है वह चारित्रमोहकृत है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सो जैसे चारित्र मोहकृत हास्य, रति, अरति, शोक आदिक बातें उत्पन्न होती हैं उस ही श्रेणी का राग रहता है, वह राग दर्शनमोहकृत नहीं हैं जो संसारबन्ध परम्परा बढ़ाने वाला है उस रागका तो अस्त हो गया है, वह रंचमात्र भी नहीं पाया जा रहा है। ऐसा सम्यग्दृष्टि रागी नहीं है, किन्तु रागरहित है।

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्व सत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ।।४४६।।

सर्वसत्त्वानुग्रह, सत्त्वमैत्री, माध्यस्थ्य व वैरवर्जनकी अनुकम्पारूपता—संवेगभावनामें विधिपरक, निषेधपरक सब वर्णन करके यह सिद्ध किया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके राग नहीं है। इस कारण वह नित्यधर्मशील है। इस तरह सम्वेग भावनाके स्वरूपका उपसंहार करके अब इस श्लोकमें अनुकम्पाका लक्षण कहा जा रहा है। सर्वप्राणियोंमें अनुराग होनेका नाम अनुकंपा है। समस्त जीवोंमें मैत्रीभाव रखनेमें भी क्या है? जहाँ सब जीवोंके क्षेमका भाव हो, किसीको दुःख न हो इस प्रकारका परिणाम है वह सब अनुराग कहलाता है। वहाँ द्वेषबुद्धि छोड़कर मध्यस्थ भाव धारण करें तो उसे भी अनुकम्पा कहते हैं। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, मध्यस्थ, ये चार प्रकारकी भावनायें अनुकम्पामें ही गर्भित हो जाती हैं। अनुकम्पामें दूसरे प्राणियोंके प्रति सहृदयताकी बात जगती है। तो मंत्री भी इसी आधारपर होती है। प्रमोद भावनामें गुणी जीवोंको निरखकर हर्ष होता, लेकिन उस हर्षमें यह बराबर गर्भित है कि उस धर्मात्मापर कोई विपत्ति आयी तो उसका निवारण करनेका इसके निरन्तर भाव बना हुआ है और कभी-कभी तो लोग कह भी बैठते हैं, किसी धर्मात्माके प्रति बहुत भक्ति जगती है तो कहते हैं कि बेचारा बड़ा सज्जन है। तो उनके ये शब्द अनुकम्पाको जाहिर कर रहे हैं। जो इस प्रकार कह रहा है उसके प्रति उस भावनामें भक्ति भी है और साथ ही कोई कष्ट आये तो उसके लिए तन, मन, धन, वचन सबका उपयोग करनेका उसमें भाव भी पड़ा हुआ है। कारुण्य तो सीधी अनुकम्पा है ही और माध्यस्थभाव भी अनुकम्पा है। कोई पुरुष विपरीत चल रहा है, अपराधी है तो उस पर द्वेष न करके उसके प्रति माध्यस्थ भाव रख लेना यह उसकी अनुकम्पा होती है। अथवा शत्रुता छोड़ देनेसे सम्पूर्ण जीवोंमें निष्कषायभाव हो जाना इसका नाम भी अनुकम्पा है।

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम्।
मिथ्याज्ञानं बिना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ।।४४७।।

सम्यक् अनुकम्पाका कारण दर्शनमोहका अनुदय—इस सम्यग्दृष्टि पुरुषमें ऐसी अनुपम विलक्षण अनुकम्पायें क्यों उत्पन्न होती हैं? उसका मूल कारण क्या है? इसका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है, उस जीवके दर्शन मोहनीयका अनुदय है, इस कारण सम्पूर्ण जीवोंमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दयारूप परिणाम हो गया है । जब इस जीवके दर्शनमोहका उदय रहता है तो मिथ्याशय कहलाता है और उस मिथ्याशयमें देह और इन्द्रियको यह आत्मा मानकर उसके पोषणमें अपना उपयोग लगाता है और उस समय जो देह इन्द्रियके पोषणके साधन होते हैं, ऐसे जीवों के प्रति तो करता है वह मैत्रीभाव और अन्य जीवोंके प्रति उसका मैत्रीभाव नहीं रहता और इसी कारण जब उन अन्य जीवोंके द्वारा या किसी भी जीवके द्वारा कोई अपने विषयमें बाधा उत्पन्न होती हुई देखी जाती है उस समय उसपर वैरभाव उत्पन्न होता है । तो ऐसी विषमतायें कब समाप्त हों ? जब यहाँ यह बोध हो कि ओह संसारके सर्वजीव एक समान स्वरूप वाले हैं, मेरा कुछ भी परिणमन किसी भी जीवके द्वारा नहीं बनता । न सुधार, न बिगाड़, अतएव सभी जीव मुझसे निराले हैं और उनका स्वरूप भी स्वयं प्रभुकी तरह एक अविकार चैतन्यस्वभावमात्र है । जहाँ यह बात निरखी कि वहाँ किसीके प्रति वैरभाव नहीं रहता । तो सब जीवोंमें मित्रताका परिणाम हो, द्वेषबुद्धि छोड़कर माध्यस्थ्यभाव आये तो इसका कारण दर्शनमोहनीयका अनुदय है, क्योंकि मिथ्याज्ञानके बिना कभी भी वैरभाव उत्पन्न हो नहीं सकता । जैसे किसी को दूसरेके प्रति किसी भी प्रकारका वैरभाव जग रहा है तो यह अनुभव है कि उसमें मिथ्याज्ञान पाया जा रहा है और जितने अंशोंमें कषाय है उतने में तो वह अज्ञान है ही, इसमें संदेह ही क्या है ? तो जब दर्शनमोहनीयका अनुदय हो तब इन जीवोंमें इस प्रकारकी विलक्षण अनुकम्पा (दया) प्रकट होती है । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन का अविनाभावी है । सम्यक्त्व होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है । तो जब सम्यक्त्व हो तब सही ज्ञान है और सही ज्ञानमें सही बोध होनेके कारण वैरभाव नहीं रहता और जहाँ मिथ्यात्वका उदय है वहाँ ज्ञान मिथ्या होता है । तो आशयके अनुसार विकल्प होता और उनके अनुसार चेष्टायें होती हैं । तो इस तरह बैर पैदा करके अपनेको मैला करना वह मिथ्यात्वके उदयका परिणाम है । सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहका उदय न रहनेसे वह सर्व जीवोंमें बैरका परिहार करके माध्यस्थ्य भाव धारण करता है ।

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥४४८॥

परसे स्वके सुख दुःख, जीवन मरणकी मान्यताका व स्वसे परके सुख दुःख, जीवन मरणकी मान्यताका मिथ्यापन—दूसरे जीवसे अपना जीवन मरण समझना, अपने द्वारा दूसरे जीवोंका जीवनमरण समझना, इसी प्रकार दूसरोंसे अपना सुख, दुःख समझना, अपने द्वारा दूसरोंका सुख दुःख समझना यह मिथ्याभाव है । जैसे लोकमें प्रायः सभी मनुष्योंके ऐसा विचार चलता है कि मैं इतने मनुष्योंको पाल रहा हूं, मैं इनको जीवित रख रहा हूं । मैं इन्हें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मार सकता हूं, मैं इन्हें दुःख दे सकता हूं, इस प्रकारका परके प्रति जीवनमरण सुख दुःखके कर सकनेका परिणाम बनाना, मानना कि मैं ऐसा कर सकता हूं—यह मिथ्या है। और इसी प्रकार दूसरे लोग मेरा जन्म मरण सुख दुःख कर देंगे, ऐसा आशय भी मिथ्या है। यद्यपि व्यवहारमें ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बन्ध देखा जा रहा है कि दूसरे लोग हमारे सुखमें बाधक भी बन जाते, साधक भी बन जाते, लेकिन वह सब मिथ्या व्यवहार है। वस्तुतः जीव को आनन्द तो अपने आपके सहज स्वभावका आलम्बन लेनेसे प्रकट होता है। अविकार शाश्वत सहज चिद्रूपके आलम्बनसे जो सहज निराकुलता होती है उसे यही है एक कर सकने वाला। दूसरा कौन हो सकता है ? और जीवन मरण, सुख दुःख भी जो दूसरोंके द्वारा देखा गया है तो वे अन्य भी केवल नोकर्ममात्र होते हैं। जब असाताका विपाक आया तो उस फल की प्राप्ति होनेमें बाहरी पदार्थ नोकर्म मात्र होता ही है। उन्होंने भी जीवन मरण अथवा सुख दुःख नहीं किया है। तो कोई पुरुष ऐसा परिणाम रखे कि मैं दूसरोंको जिलाता हूं, मारता हूं, सुखी करता हूं दुखी करता हूं या अन्यसे अपने लिए ऐसा माने तो वह भाव मिथ्या कहलाता है। मिथ्याभाव क्यों है ? इसके उत्तरमें कहते हैं।

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान्।
अज्ञानाद्धन्तुकामोपि क्षमो हन्तुं न चाऽपरम् ॥४४६॥

उक्त मिथ्या मान्यताओंके मिथ्यापनका कारण—जिस पुरुषके जैसा उक्त २ लोकमें बताया गया उस प्रकारसे आशय बना हुआ है, अज्ञान बना हुआ है वह जीव मिथ्यादृष्टि है और शल्यवान है। जैसे जिसका यह भाव बना है कि मैं पुत्रोंको सुखी कर सकता हूं, मैं सुखी करूँगा, तो इस भावके रहने पर उसको शल्य क्यों सदा बनी रहती है कि मेरा सुखी होना मेरे भाग्योदयपर निर्भर है। मेरे भवितव्यपर मेरी परिणति निर्भर है और इसने मान यह रखा कि मैं दूसरेको सुखी कर सकता हूं। तो जब वह सुखी नहीं होता तो उसको शल्य रहती है और चित्तमें बड़ा खेद मानता है। जो काम सोच रखा है, वह काम न बने तो उसके न बननेका कोई खेद नहीं है, किन्तु मैं कर सकता था और यह न हुआ तो उसकी मान्यताका खेद होता है। जिन जीवोंको जो क्लेश है वह क्लेश यों कठिन बन गया है कि भीतरमें यह शल्य पड़ी हुई है कि मैं इस कामको इस तरह कर सकता था, कर सकता हूं, कर सकूंगा, इस प्रकारका जो भाव बनाया है और फिर वह काम होता नहीं तो उसका खेद बढ़ जाता है। तो कोई पुरुष ऐसा भाव लिए हुए हो कि मैं इसके कामको नहीं कर सकता। मेरे यह अधिकारकी बात नहीं है, ऐसा भाव हो और कदाचित इच्छा भी हो कि यह काम बन जाय, और न बने तो उसका खेद न होगा, क्योंकि अंतः उसके यह ज्ञानप्रकाश बना हुआ है कि इसपर मेरा अधिकार नहीं है। जैसे खुदका माना हुआ घर यदि ठीक तरहसे नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चलता तो उसका लोग खेद मानते हैं, तो क्यों खेद मानते हैं कि उनके चित्तमें यह बात बसी है कि यह मेरा ही तो घर है, जो मैं चाहूं, जैसा चाहूं वैसा बनेगा, इस कारण उसे खेद है, और हमारे दूसरे मित्रादिक हैं उनका कोई काम बिगड़ रहा हो तो वहाँ भाव तो कर रहा है कि मैं इसका काम सुधार दूँ, मगर भीतर यह भाव पड़ा है कि इस पर मेरा अधिकार क्या है ? मेरा नहीं है कुछ तो बिगड़ने पर भी उसको खेद नहीं होता। तो बाहरी पदार्थोंमें किसी भी बाहरी परिणतिके कारण खेद नहीं है, किन्तु उसके चित्तमें यह बात समाई है कि मैं कर सकता हूं और फिर नहीं होता है वैसा तो उसे खेद होता है और यही उसके लिए शल्यरूप बना हुआ है। इस कारण मिथ्यादृष्टि सदैव शल्यवान है।

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्य वर्जनात् ॥४५०॥

स्वानुकम्पा व परानुकम्पा—अनुकम्पा दो प्रकारकी होता है (१) परानुकम्पा, (२) स्वानुकम्पा। समस्त प्राणियोंमें समताभाव रखना इसका नाम है परानुकम्पा। इसीके साथ सब अनुकम्पायें गर्भित हैं। लौकिक अनुकम्पा भी गर्भित है और पारलौकिक प्राणियोंके सम्बन्धमें जो अनुकम्पाबुद्धि होती है वह परानुकम्पा कहलाती है। स्वानुकम्पा अर्थात् परमार्थत: शल्यकी तरह शल्य जो अपनेमें पड़ी है उसका परिहार करदे उसका नाम है स्वानुकम्पा। माया, मिथ्या, निदान—इन शल्योंके मायने हैं सब प्रकारके विपरीत अभिनिवेश। पदार्थके सम्बन्धमें जो स्वरूपके विपरीत भावना बनी है, जिस भावनासे निरन्तर शल्य रहा करती है वह शल्य समाप्त कर देता है अर्थात् समस्त भेदबुद्धियोंसे दूर होकर एक निज यथार्थ अभेद बुद्धिकी ओर आये, वहाँ जो स्व और परमें अभेदबुद्धि कर रखी थी उससे हटकर अपने-अपने लक्षणसे वस्तुको भिन्न-भिन्न पहिचानकर ममता शल्य छोड़ देवें तो वह कहलाती है स्वानुकम्पा। जीव सभी आनन्द चाहते हैं, पर आनन्द वास्तवमें स्वानुकम्पा है। सो अपने आपपर कुछ कृपा तो करें कि जो व्यर्थके अज्ञानभावसे, अध्रुवभावसे, परबुद्धिसे जो निरन्तर शल्य बनी रहती है, अथवा जो अपने आपके उस शुद्ध आत्मद्रव्यसे विषयकषायोंकी छुट्टी नहीं कर पाते उन विषयकषायकी परिणतियोंकी छुट्टी कर दें, उनको अब अपनेमें प्रवेश न होने दें, इस का नाम है स्वानुकम्पा।

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपाऽऽत्मनि ॥४५१॥

बन्धसंकटमुक्तिके लिये स्वानुकम्पा करनेका अनुरोध—रागादिक अशुद्धभाव यदि हैं तब तो बंध होता है और न रहें तो बन्ध नहीं होता। बन्धन, परतंत्रता ये सब दिख ही तो रहे हैं। तो हमारा बन्धन यदि दृढ़ नहीं है, यदि बंधनसे हटकर केवल अपने स्वातंत्र्यमें आने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की भावना हुई है, अपने आपपर कुछ कृपा हो गयी है तो उन रागादिक अशुद्ध भावोंका, अशुद्धभावोंका लगाव न रखिये। रागरहित जो एक ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करें। इस स्वानुकम्पाके न होनेसे ऐसे कर्मोंका बन्ध होता हैं जिसके कारण अन्य प्राणियोंसे बैर होता है और उस बैर व्यवहारमें संक्लेश विडम्बना बनती है। तो अपने आपमें ही यदि अपनी संभाल कर ली जाय तो सारी संभाल अपने आप हो जाती है। और एक अपनी संभाल न रखी और बाहरी पदार्थोंकी संभाल रखी तो न परकी संभाल हो सकती, न अपनी संभाल हो सकती। तो अपने आपको संभाल लेना, बस इसीमें विवेक हैं, यही एक वास्तविक चतुराई है। तो ऐसी स्वानुकम्पा तब ही बनती है जब रागादिक अशुद्ध भावोंको आत्मामें न न होने दें। रागादिक अशुद्ध भाव आत्मामें न हों, इसका उपाय है विकाररहित ज्ञानमात्र निज सहजस्वभावकी दृष्टि रखना। यही मैं हूं ऐसी प्रतीति रखना, इसके अतिरिक्त अन्य परभाव मैं नहीं हूं और न किसी अन्य पदार्थसे मेरा सम्बन्ध है, ऐसा यह मैं स्वसम्वेद्य ज्ञानमात्र हूं, इतनी दृष्टि करलें तो रागादिक अशुद्ध भाव दूर हों, रागादिक भाव दूर हों, बन्धन दूर हो, तो वही अपने आपकी कृपा कहलाती है।

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चाऽऽत्मादि धर्मवत् ॥४५२॥

तत्त्व, धर्म, धर्महेतु, धर्मफलके याथात्म्य विनिश्चयकी आस्तिक्यरूपता—अनुकम्पा का स्वरूप बताकर अब आस्तिक्यका लक्षण इस श्लोकमें कह रहे हैं। तत्त्वके सद्भावको जैसा कि वह अपने आप स्वतः सिद्ध है; धर्ममें, धर्मके कारणमें, धर्मके फलमें जैसा कि उन सबका स्वरूप है, जिस प्रकार आत्मा अपने धर्ममें सहज है उस प्रकारसे विश्वास करना, निश्चय करना इसका नाम आस्तिक्य है। अस्ति इति मतिर्यस्य स आस्तिकः, आस्तिकस्य भावः आस्तिक्यम्। जो जैसा है वह उस प्रकारसे है इस तरह जिसकी बुद्धि बनी है उसको कहते हैं आस्तिक और आस्तिक आत्माका जो परिणाम है उसको कहते हैं आस्तिक्य। जो बात जिस प्रकार है उस प्रकारसे उसमें विश्वास हो तो उसे आस्तिक्य कहते हैं। आस्तिक्य शब्द ही अपना ठीक स्वरूप बता रहा है। यों तो सभी मतावलम्बी किन्हीं न किन्हीं शब्दोंमें ऐसा कहते हैं कि जो मेरे मतको माने सो तो सही है और जो मेरे मतको न माने वह मिथ्या है। उसे काफिर कह दो, मिथ्यादृष्टि कह दो, नास्तिक कह दो, किन्हीं भी शब्दोंमें कहो। तो यों अपने मतका प्रलाप है। आस्तिक्य नाम तो उसका है कि जो पदार्थ जिसरूप है उस रूप से माने, ऐसे परिणामको आस्तिक्य कहते हैं। यह पुरुष आस्तिक है अथवा नास्तिक, इसकी यदि परीक्षा करनी है तो युक्तियोंसे उसके माने गए वस्तुस्वरूपकी कसौटीपर उतरिये। तब निर्णय बनेगा कि यह आस्तिक है अथवा नहीं। केवल अपने मतके पक्षपातसे किसीको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आस्तिक अथवा नास्तिक कहना यह तो पक्षपात है। तो तत्त्वका स्वरूप जिस प्रकार है उस प्रकारसे निश्चय करना आत्माका जो धर्म है सहज स्वतःसिद्ध और उस धर्मके भी ग्रहण करनेका जो उपाय है तथा उस धर्मके ग्रहण करनेका जो फल है उसमें यथार्थ बुद्धि होना इसका नाम है आस्तिक्य। वह आस्तिक किस-किस प्रकारका भाव है ? उसका वर्णन इस श्लोकमें आगे किया जा रहा है।

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोप्यमूर्तिमान्।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥४५३॥

जीवाजीवविषयक आस्तिक्य—आपा और पर इन दो बातोंके निर्णयमें समस्त विश्व का ज्ञान भरा है। जो आपा है वही जीव नामसे कहा गया है। जीव नामक आत्मा है अर्थात् स्वयं कोई है, आपा है और वह जीव स्वरूप है, स्वतःसिद्ध है, अमूर्त है, मैं हूं। जैसे मैं हूं उस प्रकारसे अपने आपके अस्तित्वमें जिसकी बुद्धि लग गयी उसे कहते हैं आस्तिक। तो ऐसा यह मैं आत्मा स्वतःसिद्ध हूं, किसीके द्वारा बनाया गया हूं। यह तो किसी भी सत्में बात नहीं फबती, और यह मैं आत्मा चैतन्यज्ञानप्रकाशमात्र प्रतिभासस्वरूप किसीके द्वारा किस ढंगसे बताया जा सकेगा ? वहाँ तो बताया हुआ कोई पदार्थ किसीका नहीं है, सभी स्वतःसिद्ध हैं और फिर थोड़ा ऐसा व्यवहारसे कह सकते हैं कि मिट्टीको सानकर लोंधा बनाकर चाकपर चढ़ाकर घड़ा बना दिया तो लो बना दिया गया। बन गया घड़ा। यह व्यवहार किया जा सकता है, लेकिन आत्माके बनाये जानेमें व्यवहार भी तो सम्भव नहीं है। यह प्रतिभासमात्र अंतस्तत्त्व किसके द्वारा बनाया गया, किस साधनसे बनाया गया ? किसने बनाया, कहाँ बैठकर बनाया ? जो बनाने वाला होगा वह शरीरधारी है या इसी आत्माकी तरह एक अमूर्त ही कोई है आदिक अनेक प्रश्न और उनपर विचार किया जाय तो यह विदित हो जायगा कि इस आत्माका निर्माता कोई नहीं है। यह स्वतःसिद्ध है तथा मूर्तिमान भी नहीं है। यदि इसमें कोई मूर्ति होती, रूप, रस, गंध, स्पर्श होता, ढेले पत्थरकी तरह कोई पिण्डरूप होता तो इसमें प्रतिभासकी कला न रह सकती थी। प्रतिभास कला क्या है ? इस प्रतिभासके स्वरूपपर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि यह प्रतिभासस्वरूप आत्मा तो अमूर्त ही है। ऐसा यह स्वतःसिद्ध मैं जीव नामक पदार्थ हूं, सो यह मैं चैतन्य हूं और बाकी सब कुछ अजीव हैं, अचेतन हैं, अथवा यह जीव चेतन है और जीवको छोड़कर शेष पदार्थ अचेतन हैं। इस प्रकारकी बुद्धि आस्तिक्यभावमें हुआ करती है। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा स्वीकार कर लेना, मान लेना, उसमें वैसा ही विश्वास करना इसका नाम है आस्तिक्य। तो इस श्लोकसे सर्वप्रथम यह बात बतायी है कि पहिले यह निर्णय होता है तत्त्वज्ञ पुरुषको कि आत्मा तो जीव है, चेतन है, अमूर्त है, स्वतःसिद्ध है और ऐसे चेतन जीवको छोड़कर शेष पदार्थ अजीव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं, वे भी स्वतःसिद्ध हैं, लेकिन अचेतन हैं, ऐसे चेतन और अचेतनके रूपमें दो भागोंमें सारे विश्वके प्रति इसका आस्तिक्यभाव हुआ।

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥४५४॥

आत्मावस्थाविषयक आस्तिक्य—अब इस जीवके सम्बन्धमें कुछ और विशेष जानकारीकी बात कही जा रही है। जैसा कि आस्तिक पुरुष विश्वास बनाये हैं, क्या, कि यह आत्मा अनादिसे कार्माणवर्गणात्मक कर्मोंसे बद्ध है। जीव है यह चेतन है ऐसा स्वरूप स्वीकार करके अब उसकी इस वर्तमान पर्यायकी समीक्षा की जा रही है। यह जीव कर्मोंसे बंधा है। कैसे जाना कि बंधा है? कर्मोंसे बंधनेकी बात प्रत्यक्ष तो नहीं मालूम हो रही, लेकिन और जो बन्धन हैं वे अपनेको अनुभवमें आ रहे—घरका बन्धन, शरीरका बन्धन, गोष्ठीका बन्धन, कितनी तरहके बन्धन और परतंत्रतायें हैं। ये सारे बन्धन न रहें तो उसीको कहते हैं मुक्त, सिद्ध स्वतंत्रबिहारी। कुछ भी काम करना हो सिद्ध, आवश्यक, वह सब उसके अवश होकर होता है, स्वतंत्र होकर होता है, पराधीन होकर नहीं होता। तो जो-जो बन्धन पड़ा है वह यह हीं साबित करता है कि इस मोटे बन्धनका कारणभूत वह सूक्ष्मबन्ध पड़ा हुआ है, और वह सूक्ष्मबन्ध है कार्माणवर्गणाकर्मका। तो यह जीव कार्माणवर्गणात्मक कर्मोंसे अनादि कालसे बँधा चला आया है और उन ही कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है। वही चला आ रहा है अनादिकालसे इस तरहसे यह जीव संकटापन्न है, लेकिन उन ही कर्मोंका क्षय होनेसे वही जीव मोक्षका भाजन होता है, वह मुक्त हो जाता है। जब तक कर्मबन्धन है तब तक संसार है। जहाँ कर्मक्षय हुआ वहाँ मुक्ति हुई। कर्मक्षय हुआ इसके लिए इतना विश्वास पहिले करना ही होगा कि मैं आत्मा स्वरूपतः कर्मोंसे रहित हूं। कोई पदार्थ यदि मैला बन गया है, उस पर कूड़ा पड़ा है तो उस पदार्थको साफ करनेके लिए, शुद्ध स्वच्छ बनानेके लिए जो प्रयत्न करता है उसकी बुद्धिमें यह बात विश्वासके साथ पड़ी है कि यह चीज तो भीतर से पवित्र है, ठीक है, जो उसका स्वरूप है वह तो सो ही है। यह मेल तो ऊपरका है यह तो हटानेसे हट जायगा, ऐसी श्रद्धा जिसको न हो वह कैसे उस पदार्थको साफ कर सकेगा? तो इसी प्रकार समझिये कि जो जीव कर्ममुक्त होनेका यत्न कर रहा है उसके विश्वासमें यह बात पड़ी हुई है कि यह जीव तो ज्ञानमात्र है, अमूर्त है, अविकार है, कर्मादिकसे रहित स्वरूप वाला है। तो जब यह अपने आपमें केवल है तो ऐसी केवलता प्रकट हो सकती है और फिर उसके मैलको धोनेका उपाय क्या है? यहाँ तो लोकमें उस चौकी आदिक पदार्थके धोनेका उपाय अन्य साधनोंसे बनाया जाता है, कपड़ेको साफ किया, पानीसे धोया, लेकिन यहाँका मैल साफ करनेका अन्य साधन नहीं है, किन्तु जैसे अविकारस्वभावी आत्मतत्त्व है उस प्रकारसे

http://sahjanandvarnishastra.org/

दृढ़तर दृष्टि बनाये कि यह ऐसा ही विकाररहित शुद्ध प्रतिभास मात्र है, बस भीतरकी इस दृष्टि पौरुषके प्रतापसे वह मैल दूर हो जाता है।

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम ॥४५५॥

पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर व निर्जराके विषयमें आस्तिक्य—इस संसारी जीव के उन कर्मोंके निमित्तसे पुण्यपाप और उसका फल होता रहता है। संसारमें रहने वाले जीवों के यही काम तो चल रहा है। क्या रोजिगार चल रहा? भीतरी रोजिगार चल रहा। यहाँ तो ८ घंटे काम किया, १२ घंटे काम किया आदि, इस तरहका विभाजन चलता है, लेकिन आत्माके कामके किये जानेमें तो कोई विभाग ही नहीं है। सर्वदा व्यापार कर रहा है। एक क्षण भी यह ठहर नहीं रहा है। संसारियोंका क्या व्यापार है? अशुद्ध भाव बनाना, पुण्य पापरूप भाव होना और बाहर पुण्य पापकर्मका बन्ध होना और उसका निरन्तर फल पाना, बस यही एक काम किया जा रहा है। तो इस संसारी जीवकी यह बात चल रही है, और साथ ही साथ आस्रव और उदयरूप निर्जरा भी चलती है, पर किन्हीं ज्ञानी जीवोंके सम्वर और मोक्षका हेतुभूत निर्जरा भी चलती है, यह हो रहा है संसारमें तो जो बात जिस प्रकारसे है, परिणमता है उसको उस प्रकारसे विश्वासमें लाना, यह ही तो आस्तिक्य कहलाता है।

अप्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षश्च तत्फलम्।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोपि सर्वदा ॥४५६॥

पर्यायदृष्टि बन्ध, मोक्ष व फलके सत्त्वका परिचय तथा शुद्धनयदृष्टिसे शुद्धता अर्थात् बन्धमोक्षविविक्तताका परिचय—आस्तिक पुरुष आत्माके सम्बन्धमें विचार कर रहा है कि पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो यह बँधा है। जीवकी जो वर्तमान परिस्थिति है उसको कहते हैं पर्याय। उस पर्यायकी दृष्टिसे यह बात सही है कि यह आत्मा शरीर कर्म, विभावभाव आदिक से बँधा है और इस जीवका मोक्ष होता है तो वह भी एक जीवकी परिस्थिति है। तो पर्याय-दृष्टिसे मोक्ष भी है। जीवका बन्धन और मोक्ष ये दोनों पर्यायदृष्टिसे विदित होते हैं, पर शुद्ध-नयका आलम्बन लेकर निरखा जाय तो यह जीव सदा ही शुद्ध है। सभी जीव शुद्ध हैं। शुद्धनयके आदेशका भाव यह है कि जीवमें सत्त्वके कारण सहज अपने आपमें जो भाव है पारिणामिक भाव, स्वभाव भाव वह भी पर्यायरूप स्वाभाविक भाव नहीं, किन्तु आस्तिक्यका प्रयोजन जो आत्माका स्वरूप है वह है पारिणामिक भाव। उसकी दृष्टिसे तो सभी जीव सदा काल शुद्ध हैं अर्थात् वे अपना अस्तित्व रख रहे हैं। जिस प्रकार उनका सहज अस्तित्व है वह सभी जीवोंमें पाया जाता है। तो बन्ध और मोक्ष पर्यायदृष्टिसे होते, पर पर्यायदृष्टि न करके निरखा जाय तो उस दृष्टिका नाम है शुद्धनय। उस शुद्धनयसे यह जीव सदाकाल शुद्ध है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अर्थात् अपने सहज चैतन्यस्वरूप है। इस आस्तिकने पहिले आत्माको जाना। उसका सामान्य वर्णन उसके विश्वासपर सही रहा कि यह जीव है, चैतन्य है, अमूर्त हैं, स्वत:सिद्ध है, फिर उसे वर्तमान परिस्थितिमें देखा कि यह तो अनादिकालसे कर्मबद्ध है। उनका फल भोगता है और यह भी समझो कि उन कर्मोंका क्षय हो जाय तो वह मोक्षका अधिकारी भी होता है। तो संसार अवस्थामें तो यह निरन्तर कर्तृत्व भोक्तृत्वका काम कर रहा है, ज्ञानअवस्थामें अपने ज्ञानभावका काम कर रहा और मोक्ष अवस्थामें मुक्त है, सो ये सब पर्यायें हैं। उन पर्यायोंको गौण करके शुद्धनयसे देखा जाय तो यह आत्मा, सभी आत्मा सदा काल अपने स्वरूपमात्र हैं अतएव शुद्ध हैं।

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः।
सोहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥४५७॥

चिदात्मकत्वकी आत्मरूपता तथा रागादिकोंकी पौद्गलिकता व हेयरूपता—इस श्लोकमें जीवका वह स्वरूप बताया जा रहा है जो श्रद्धा किए जानेपर जीवका कल्याणका कारण बनता है। जीवके कहने पर यद्यपि जीवकी गुणपर्यायोंका विस्तार विभाव सभी आ जाते हैं। जैसे कि "राजा" ऐसा कहनेपर फौज, नगर, गोष्ठी आदिक सब कुछ आ जाता है लेकिन वहाँ केवल राजाकी बात जानना हो तो वहाँ केवल एक व्यक्तिको ही दृष्टिमें रखकर जाना जायगा। इसी तरह जीव कहते ही यद्यपि गुणस्थान मार्गणा और और विस्तार सभी कुछ इसके साथ आ गए, फिर भी एक अन्तः केवल जीवतत्त्वको ही निहारना है तो वहाँ किस ढंगसे निहारना चाहिए ? उसकी बात इस श्लोकमें कही गई है।जो यह जीव संज्ञावादी पदार्थ है वह आत्मा स्वसम्वेद्य है, अपने आपके द्वारा ही सम्वेदनमें आने योग्य है और चिदात्मक है, केवल एक चित्स्वरूप है। जाननप्रतिभासमात्र बात है, इतना तो उसका ग्रहण कर लीजिए और जितना ऊपर रंग पालिस है उसे उससे अलग कर दीजिए। जैसे हरा पीला आदिक कागज लगानेसे अथवा हरे पीले काँच आदिके बल्ब लगानेसे प्रकाश हरा पीला आदि हो गया है। अब यहाँ जितना एक प्रकाशमात्र है, उजेला मात्र है, जिसके कारण वस्तु देखा जाता है, उतना तो प्रकाशरूपमें ले लीजिए और बाकी रंग पालिस आदिक जो बातें हो रही हैं उन औपाधिकारको उससे अलग बुद्धिमें कर लीजिए। तो इस ही तरह जीवकी भी बात निहारिये। जीवके कहनेसे सब बातें आ गई हैं, लेकिन जो स्वसम्वेद्य है, चिदात्मक है, चित्प्रतिभासमात्र है वह तो हूं मैं और रागादिक जो अन्य भाव हैं वे हैं पर और ऐसे पर हैं कि वे सब पौद्गलिक हैं, पुद्गल परिमाणुसे निष्पन्न हैं। कुछ तो प्रत्यक्षके साक्षात् परिणमन हैं और कुछ पर्यायका निमित्त पाकर होने वाले भाव हैं, तो आखिर पुद्गलके साथ अन्वयव्यतिरेक तो रहा। तो जितने भी रागादिक भाव हैं वे सब पौद्गलिक हैं, इस तरह उन सर्व परभावोंसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विविक्त केवल चिदात्मक शुद्ध अंतस्तत्त्वको यहाँ जीव परखा जा रहा है।

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम्।
निश्चयव्यवहाराभ्यां आस्तिक्यं तत्त्वथामतिः ॥४५८॥

निश्चय और व्यवहारसे जीवादिवस्तुसमूहके यथावत् परिचय होनेकी आस्तिक्यरूपता—आस्तिक्य गुणके प्रकरणमें वस्तुका संक्षेप रूपसे स्वरूप दिखाया जा रहा है कि यह आस्तिक पुरुष पदार्थका किस रूपसे श्रद्धा कर रहा है ? तो जैसे इस जीवतत्त्वके बारेमें कुछ कहा और जीवादिकका भी कुछ संकेत किया तो समझना चाहिए कि ये जीवादिक समस्त पदार्थ इस तरह अनादिकालसे चले आये हैं और सभी निश्चय व्यवहारसे अपना-अपना भिन्न-भिन्न स्वरूप रख रहे हैं। वस्तु क्या है, किस प्रकार है ? वर्णन करनेकी दो तो पद्धतियां हैं—एक भेदपरक पद्धति और दूसरी अभेदपरक पद्धति। वहाँ न कुछ भेद कह सकते हैं और न अभेद कह सकते हैं। भेद गुण पर्यायोंका ध्यान रखकर इस जीवमें अभेद है, ऐसा कथन भी एक शुद्ध निरुपरागमें कलंककी तरह बन गया। तब भेदके कलंकपनेकी तो बात ही क्या कहें ? भेद है गुणपर्यायोंका जीवसे, इस कथनमें भेदकी झाँकी लाते हुए कथन किया गया है। किसी को यदि यह कह दिया जाय कि रात्रिको स्टेशन ही जाना हो, बीचमें बरगदका एक पेड़ मिलता है। वहाँ भूत नहीं रहता है, जरा भी न डरना। लो बड़ी कृपा की उस पर ? अरे यह बात-कहते ही नहीं तो उसके लिए भला था। अब तो वह जब रात्रिको जायगा तो उस स्थानपर पहुंचते ही उसका ख्याल आ जानेसे वह भयभीत हो जायगा। कुछ न कुछ उसे भूतकी मुद्रा दृष्टिमें आ ही लेगी। तो वस्तुमें अभेदकी भी क्या कथा कहें ? वह तो एक विवशताकी बात है, जो कहना पड़ रहा है और भेदका कथन तो स्पष्ट व्यवहार ही है। तो स्वरूप का जब वर्णन होता है वह निश्चय और व्यवहार इन दो पद्धतियोंसे भिन्न-भिन्न रूपसे होता है। उन्हें जानें और जैसे जो कुछ पदार्थ हैं सही उनको उस प्रकारसे श्रद्धा करें, इसको कहते हैं आस्तिक्य।

सम्यक्त्वेनाबिनाभूतस्वानुभूत्यैकलक्षणम्।
आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्व मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥४५९॥

सम्यक्त्वाविनाभूतस्वानुभूतिसनाथ आस्तिक्यकी सम्यग्रूपता व अन्य आस्तिक्योंकी मिथ्यारूपता—अब आस्तिक्यके सम्बन्धमें मिथ्या भी आस्तिक्य होता है और सम्यक् भी, ऐसे दो विभाग किए जाते हैं। यद्यपि आस्तिक्यका सीधा लक्षण सम्यक्रूप ही होता है, लेकिन लोगोंने तो आस्तिक्य होने पर वस्तुमें स्वरूप उस प्रकारका होना अपनी कल्पनामें मान लिया है। तो वह मिथ्या आस्तिक्य हो जाता है। इसीका एक निष्कर्षात्मक साक्षात् विषयका वर्णन कर रहे हैं कि सम्यग्दर्शनके अविनाभूत जो स्वानुभूति है, वही जिसका एक लक्षण बन रहा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो अथवा इस स्वानुभूतिके प्रतिकूल जो आस्तिक्य भाव बना हुआ हो वह है सम्यक् आस्तिक्य। और उसके विरुद्ध अर्थात् स्वानुभूतिके अभावमें होने वाले आस्तिक्यको मिथ्या आस्तिक्य कहते हैं। वही है मिथ्यात्व। माननेको तो सभी मानते हैं कि मैं ठीक जान रहा हूं, वस्तुके स्वरूपका सही परिचय ले रहा हूं, यों उनका आस्तिक्य बन गया। अपनी कल्पनामें हम भी सोचते हैं। कौन ऐसा सोचता है कि पदार्थ नहीं है, जैसे मैं वैसा मान रहा हूं याने उल्टा जान रहा हूं। उसरूप जाननेकी स्थितिमें किसको ऐसी परख है कि मैं उल्टा जान रहा हूं ? अगर उल्टा जाननेकी परख हो तो उल्टा जानना रहा ही क्या ? तो जो मिथ्यात्वके साथ आस्तिक्य बना हुआ है, स्वानुभूतिसे रहित जिसका आस्तिक्य है वह मिथ्या है, और स्वानुभूतिसहित जिसका आस्तिक्य भाव है उसका वह सम्यक् आस्तिक्य भाव है, उसका वह सम्यक् आस्तिक्य है। प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ऐसे चार सम्यक्त्वके बाह्य लक्षणोंका प्रकरण चल रहा है। यह बात पहिले ही घोषित कर दी गई थी कि ये चार बाह्य लक्षण हैं, पर ये मिथ्यारूप भी कहीं हो सकते हैं और कहीं सम्यक्त्वरूप भी हो सकते हैं। सम्यक्त्वके साथ रहने वाले ये गुण तो सम्यक्रूप हैं और सम्यक्त्वसे रहित हुए उनका यह गुण आभासरूप होता है। इसी तरह आस्तिक्याभास भी लें। लगता है आस्तिक्य जैसा, पर है नहीं आस्तिक्य, वह तो आस्तिक्याभास कहलाता है।

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥४६०॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत्।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोर्थतः ॥४६१॥

आस्तिक्यके स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वमें शंकाकारकी आशंका—यहाँ शंकाकार कह रहा है कि वास्तवमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो एक केवलज्ञान है। अन्य ज्ञान तो प्रत्यक्ष हैं नहीं, वे तो परोक्ष रहा करते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान–इन पाँचों ज्ञानों में केवलज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है और वस्तुतः शेषके चार गुण प्रत्यक्ष नहीं कहलाते हैं। और कदाचित इस दृष्टिसे देखा जाय कि अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान भी तो इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना जानते हैं, उनके यद्यपि आवरणका क्षयोपशम आदिक पराधीनतायें हैं, इससे केवलज्ञानकी तरह प्रत्यक्षपना इसमें नहीं है, लेकिन इस निगाहमें कि इन्द्रिय और मनका आलम्बन लिए बिना अथवा जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियसे हम पदार्थोंको जानते हैं उस तरह इन्द्रियका प्राधान्य लिए बिना जान रहे हैं, इस कारण प्रत्यक्ष है तो है प्रत्यक्ष, किन्तु है वह एकदेशप्रत्यक्ष और उनका विषय है रूपी पदार्थ। अमूर्त आत्मा उनका विषय नहीं है। अब रहे शेषके दो ज्ञान—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो ये परोक्ष हैं। और कदाचित् वहाँ भी ऐसी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिज्ञासा करें कि हम आँखसे, कानसे जानते हैं वह तो प्रत्यक्ष लग रहा है। आँखोंसे निरख रहे, चौकी, चटाई आदिक तो यह झूठ तो नहीं है, स्पष्ट ज्ञात हो रहे, प्रत्यक्ष लग रहे, वहाँ कह लीजिए कुछ ज्ञानोंका प्रत्यक्ष, किन्तु वह है सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और यहाँ भी अभी अमूर्त पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होता। अमूर्त पदार्थ अगर प्रत्यक्ष हो सकता है तो केवलज्ञानमें हो हो सकता है। शंकाकारका मूल आशय यह है तो जब वास्तवमें केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है तब यहाँ आस्तिक्यको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष क्यों कह रहे हो? आस्तिक्यमें जो आत्माका आस्तिक्य ज्ञात हो रहा है उसे सुसम्वेद्य कह दिया है अर्थात् अपने आपके द्वारा उसे जानता है, सुसम्वेदन प्रत्यक्ष है तो उसे सुसम्वेद्य प्रत्यक्ष कैसे कह दिया गया है? अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥४६२॥

मति श्रुत ज्ञानकी परसंवेदनमें परोक्षता व स्वानुभूतिमें प्रत्यक्षता बताकर उक्त शंका का परिहरण—शंकाकारकी उक्त शंका बहुत अंशोंमें ठीक है। जो निर्णय दिया है कि वास्तवमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो केवलज्ञान है जो समस्त पदार्थोंको स्वतंत्रतया जान लेता है। इतनी प्रत्यक्षता अन्य ज्ञानोंमें कहाँ रखी हुई है? और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष है तो वह भी सर्वप्रत्यक्ष कहाँ है? अमूर्त पदार्थको नहीं प्रत्यक्ष कर पाते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष कहे ही गये हैं। और जो मतिज्ञान प्रत्यक्ष भी हो रहा है तो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। वहाँ अमूर्त पदार्थ नहीं प्रत्यक्ष होते। इतनी बात शंकाकारकी ठीक है लेकिन यह बात यहाँ समझनी है कि आदिके जो दो ज्ञान मति और श्रुत परोक्ष कहे गए हैं तो ये परपदार्थ का परिचय करनेमें परोक्ष हैं, लेकिन जब स्वकी अनुभूतिके लिये करें कोई उपाय तो स्वानुभूतिके लिए तो चूंकि दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिक हो गया है इसलिए प्रत्यक्ष है। दर्शनमोह कहते हैं उसे जो आत्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन न करने दे और जब दर्शनमोह हट गया तो अर्थ क्या बनेगा कि अब यह शुद्ध सहजस्वरूपका दर्शन कर सकता है। तो ऐसे शुद्धस्वरूपका जो दर्शन है वह प्रत्यक्ष है। तो स्वानुभूतिमें यह प्रत्यक्षज्ञान है और परके जाननेमें यह परोक्षज्ञान है। लो मतिश्रुतकी यह प्रत्यक्षता अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानकी प्रत्यक्षतासे कितनी ही बढ़ी चढ़ी हो गई है। अहा अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानका विषय अमूर्तपदार्थ आत्मा तो हो ही नहीं सकता था, लेकिन इन ज्ञानोंका विषय अमूर्त आत्मतत्त्व भी हो सकता है। तो स्वात्मानुभूतिके कालमें ये दोनों ज्ञान परोक्षज्ञान नहीं रहते, किन्तु प्रत्यक्ष हो जाते हैं। क्योंकि प्रत्यक्षताका बाधक तो दर्शनमोहका उदय था। वह जब न रहा तो स्वानुभूतिका वह साधक बन गया।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ।।४६३।।

स्वानुभूतिमात्र आस्तिक्यकी परमगुणता—स्वात्मानुभवस्वरूप जो आस्तिक्य है वही परमगुण है। तो आस्तिक्य परपदार्थके सम्बंधमें भी होता है और स्वपदार्थके सम्बन्धमें भी होता है। ये परपदार्थ जिस स्वरूपमें हैं उसी स्वरूपमें उनका ज्ञान चले, यह भी तो आस्तिक्य की बात है और स्वपदार्थ जिस स्वरूपमें है उस स्वरूपमें इसका परिचय चले, परिज्ञान हो, अनुभूति हो यह भी आस्तिक्य है, किन्तु परपदार्थ तो पर ही कहलाता है। तो परपदार्थके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है, लेकिन स्वके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य हुआ है वह प्रत्यक्ष है। शंकाकार तो परका आस्तिक्य और स्वका आस्तिक्य दोनोंको एक श्रेणीमें रखकर शंका कर रहा था कि आस्तिक्य प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है, लेकिन आस्तिक्य-पने में जो स्वआस्तिक्य है अपने आपके आस्तिक्यका परीक्षण है वह चूंकि स्वानुभूतिपरक है, स्वसम्वेद्य है अतएव वह स्वानुभूतिके कालमें प्रत्यक्षरूप है, तो परके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य होता है वह प्रत्यक्ष नहीं होता, लेकिन आत्माके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य है वह प्रत्यक्ष होता है। परके विषयमें हुआ आस्तिक्य ज्ञानमात्र रह गया, जान लिया और स्वके विषयमें होने वाला आस्तिक्य अनुभवात्मक हो गया। जैसे कोई पुरुष दूसरेका बुखार थर्मामीटरसे नाप रहा है। थर्मामीटरको देखकर उसने बता दिया कि १०३ डिग्री बुखार है तो उसने उसके बुखारका प्रत्यक्ष नहीं किया, किन्तु ज्ञानमात्र किया और जिसको बुखार चढ़ा हुआ है वह तो प्रत्यक्षरूपसे (अनुभवात्मकरूपसे) उसका अनुभव कर रहा है। जो कुछ बुखार में वेदना आदिक हो रही है उसको वह भोग रहा है। तो ज्ञानमात्र होना और अनुभव होना—इन दोनोंमें अंतर है। तो यही बात इस आस्तिक्यके सम्बंधमें है। जब परका आस्तिक्य हो रहा है तो वहाँ परका अनुभव नहीं है, किन्तु ज्ञानमात्र है और जब स्वका आस्तिक्य हो रहा है तो वहाँ ज्ञान हुआ, लेकिन ज्ञानमात्र न रहा, अनुभवात्मक बन गया। तो इस तरह स्वके सम्बन्धमें अनुभवात्मक जो परिचय होता है वह परोक्ष न रहकर प्रत्यक्ष हो जाता है।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्याऽस्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ।।४६४।।

परपदार्थके संवेदनकी परोक्षता होनेपर भी परपदार्थविषयक प्रतीतिकी स्वात्मपरिचय प्रतीतिवत् दृढ़ता—अब यहाँ कोई ऐसा न समझ ले कि इस आस्तिक पुरुषको परपदार्थके सम्बन्धमें जो ज्ञान हो रहा है वह परोक्षज्ञान है, तो ढिलाई वाला ज्ञान हुआ है। उसके सम्बन्धमें उसके पक्की निर्णय वाली बात नहीं पड़ी हुई है। कोई ऐसा न समझ ले, पर परपदार्थ जो परोक्षयित रहता है अर्थात् इसका ज्ञान परोक्षरूप बन रहा है तो यह स्वानुभवके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आस्तिक्यके मुकाबलेमें चूँकि यह परत्व है, इस कारण परोक्ष है तो रहे परोक्ष, लेकिन उन परपदार्थोंके सम्बन्धमें भी जो जानकारी हुई है तद्विषयक दृढ़ प्रतीति है। ऐसा नहीं है कि परपदार्थके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य होता है वह ढिलाई लिए हुए होता है, कुछ संशयको लिए हुए होता है। वहाँ भी उस परस्वरूपकी गाढ़ प्रतीति है। जैसे अपने आपकी प्रतीति गाढ़ बनी हुई है उसी प्रकार अन्य परोक्ष पदार्थोंमें भी सम्यग्दृष्टि आत्माके दृढ़ प्रतीति बनी हुई है। परोक्षत्व तो परत्वताके कारण है, परन्तु जो ज्ञान हुआ है परपदार्थका वह स्वपदार्थकी भाँति दृढ़ प्रतीतिको लिए हुए है। पुद्गल अचेतन ही है, मेरे चतुष्टयसे भिन्न ही है। इसका परिणमन इसके स्वरूपमें चल रहा है। इसका उत्पादव्ययध्रौव्यमय सत्त्व इसमें हो अनुस्यूत है, मेरा इससे रंच सम्बन्ध नहीं आदिक जो परपदार्थविषयक परिज्ञान होता है वह शिथिल ज्ञान नहीं है, दृढ़ प्रतीतिको लिए हुए ज्ञान है, किन्तु पर होनेके कारण उसका अनुभव नहीं हो पा रहा है। और यह तो वस्तुकी मर्यादा है। आत्मामें जो बात बीत रही है वह आत्माके लिए तो प्रत्यक्ष है। जैसे चौकीका ज्ञान किया। चौकीका ज्ञान है इस अंशमें परोक्ष ज्ञान है। चौकीके भीतर जो ज्ञान है उस ज्ञानके बाबत जो ज्ञान बन रहा है वह प्रत्यक्ष है। इसी तरह यहाँ भी स्वसंवेदनको प्रत्यक्ष और परसंवेदनको परोक्ष कहा गया।

न तथास्ति प्रतीतिर्वा चास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम्।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेर्दृङ्मोहतोऽनिशम् ॥४६५॥

दर्शनमोहके कारण मिथ्यादृष्टिके सम्यक् प्रतीतिका अभाव—उक्त श्लोकमें यह बताया था कि जीवादिक परवस्तुवोंके सम्बन्धमें सम्यग्दृष्टि जीवकी वैसी ही दृढ़ प्रतीति होती है जैसी प्रतीति आत्माके विषयमें होती है। अर्थात् यद्यपि आत्माका सम्वेदन प्रत्यक्ष है और परका सम्वेदन परोक्ष है, फिर भी प्रतीति दोनोंकी दृढ़ बनी हुई है। सम्यग्दृष्टि जीवके परवस्तु-विषयक जैसी प्रतीति होती है वैसी प्रतीति मिथ्यादृष्टि जीवके नहीं होती। स्वसम्वेदन तो हो हीं क्या? इसकी प्रतीतिकी बात ही क्या कहें? सम्यग्दृष्टिकी प्रतीतिकी भाँति मिथ्यादृष्टिके सम्वेदनमें भी प्रतीति नहीं होती। इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टिके दर्शनमोहका उदय है और दर्शनमोहका उदय होनेसे वहाँ आशय ही विपरीत (मिथ्या) हो गया। वस्तुस्वरूपके विरुद्ध अभिप्राय बन गया तो उस समय जो ज्ञान करेगा वही ज्ञान सही नहीं है, प्रतीतिकी तो बात ही क्या है? दर्शनमोहका अर्थ है कि जैसा पदार्थ है, उस प्रकारके दर्शनमें मोह आ जाना अर्थात् बेहोशी आ जाना, उस तरहका दर्शन न कर सकना, इसको कहते हैं दर्शन मोह अर्थात् सम्यक्त्वके विपरीत अवस्था। तो दर्शनमोहका उदय होने के कारण निरन्तर ही मिथ्यादृष्टिके भ्रान्ति रहा करती है, तब उसकी प्रतीति परसम्बन्धमें भी यथार्थ कैसे हो सकती है?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥४६६॥

सम्यक्त्वके साथ अविनाभूत आस्तिक्य गुणकी महत्ता व श्रेष्ठता—उक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो गई है कि युक्ति, स्वानुभव और आगमसे यह प्रमाणित है कि सम्यक्त्वके साथ अविनाभावी जो आस्तिक्य गुण है वह महान गुण है। यद्यपि पदार्थोंके सम्बन्धमें आस्तिक्यका परिचय प्रायः सभी लोग करते हैं, पर जो आस्तिक्यका परिचय सम्यक्त्वके साथ अविनाभूत है अर्थात् सम्यक्त्व होने पर जिस प्रकारका आस्तिक्य जाना जाता है उस प्रकारसे आस्तिक्यकी समझ हो, यह आस्तिक्य परमगुण है और यही संसारमार्ग और मोक्ष-मार्गकी समस्याका सुलझा लेने का उपाय है। केवल एक आत्माके इस आस्तिक्यभावपर ही संसारका मार्ग चलता है और मुक्तिक मार्ग चलता है। सम्यक्त्वके साथ अविनाभूत होकर जैसे आस्तिक्य होना चाहिए उस आस्तिक्यके बलपर मोक्षमार्ग चलता है, किन्तु सम्यक्त्वरहित अवस्थामें जिस किसी भी प्रकारकी आस्तिक्यबुद्धि हुआ करती है। पर्यायमें आपा माननेसे वस्तुके यथार्थ द्रव्यकी पहिचान नहीं हो सकती और उसके सम्बन्धमें जो बाह्यरूप नजर आता है उसे ही सर्वस्व द्रव्य समझना आदिक बातें और उसमें जो भिन्न था उसे अभिन्न मानना और जो अभिन्न है उसे भिन्न मानना—जिन कारणोंसे वह होता है उन कारणोंकी समझ भी न होना, ऐसे आस्तिक्योंके साथ अर्थात् मिथ्याअस्तित्व बुद्धिके साथ जो आस्तिक्यभाव है वह तो आस्तिक्याभास है। किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहने वाला जो आस्तिक्य है वह परमगुण है।

संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरिहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥
उक्तगाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥४६७॥

सम्यक्त्वके अन्य ग्रन्थोक्त अष्टगुणोंकी प्रशमादि गुणसे अनतिरिक्तता व सम्यक्त्वकी उपलक्षणता—सम्यक्त्वके लक्षणके सम्बन्धमें अन्य ग्रन्थोंमें ८ लक्षण कहे गए हैं—सम्वेग, निर्वेग, निन्दन, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। इन ८ गुणोंका लक्षण यहीं आगे बताया जायगा, पर इसके सम्बन्धमें यहाँ यह बताया जा रहा है कि इस गाथामें जो ८ लक्षण कहे गए हैं, सो ये प्रशम आदिक चार लक्षणोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य—इन चार गुणोंसे ये भिन्न नहीं हैं, केवल लक्षण और उपलक्षण बतानेके लिए ये ८ गुण कहे गए हैं। इन ८ गुणोंमें कुछ तो आप यह निरखेंगे कि ये सीधे सम्यक्त्वके बाह्य लक्षण कहे गए हैं और कुछमें यह देखेंगे कि ये सम्यक्त्वके लक्षणोंके लक्षण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं। तो लक्षण और उपलक्षण बतानेकी पद्धतिसे ८ गुण बताये गए हैं। कोई यह विरोध न समझे कि इस ग्रंथमें तो चार लक्षण कहे हैं—प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। और अन्य ग्रन्थोंमें ८ लक्षण बताये गए हैं, इसका कोई विरोध न जानें, इसके लिए इस श्लोकमें यह संकेत किया गया है कि ये ८ गुण उन चार लक्षणोंसे भिन्न नहीं हैं, किन्तु वे सम्यक्त्वके लक्षणके उपलक्षण हैं और कोई लक्षण हैं। तो लक्षण क्या चीज कहलाती है और उपलक्षण क्या होता है? इसका विवरण अब आगे करते हैं।

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम्।
तत्तथाऽस्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥४६८॥

उपलक्षणका लक्षण—उपलक्षणका लक्षण किया जा रहा है कि जो लक्षणका लक्षण हो उस उपलक्षण कहते हैं। जैसे सम्यक्त्वके लक्षण प्रशम सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य कहे हैं तो प्रशम संवेगके हो जो और लक्षण हैं, जिन चिन्होंसे यह पहिचान होती है कि ये प्रशम आदि गुण हैं, वे कहलाते हैं सम्यक्त्वके लक्षण और प्रशमके परिचयसे जाना जाता है सम्यक्त्व, सो वे निन्दनादिक कहलाते हैं सम्यक्त्वके उपलक्षण। जैसे किसी बहुत बड़ी सभा के बीच कोई सेठ जी बैठे हुए हैं, किसी ने कहा कि भाई तुम अमुक सेठ जी को इस सभासे बुला दो। वह पुरुष बेचारा उस सेठसे अपरिचित था। तो उसे परिचय दिया जाता है कि देखो—जो मोटा है, साँवला है वह है अमुक सेठ, उसे बुला दो। इतने पर भी वह न समझा तो कहते हैं कि देखो जो पेंचदार पगड़ी बाँधे बैठा है वह है सेठ तो देखिये उस सेठके परिचयके लिए वे सब उपलक्षण हो गए अथवा यों समझिये कि जैसे जीवका लक्षण क्या है? तो कहा कि जीवका लक्षण तो चैतन्य है, ज्ञानदर्शन है और ज्ञानदर्शन लक्षण क्या है कि जहाँ समझ होती है, जो विचार किया जाता है, जहाँ चिन्तन होता है। तो चिन्तन होना, विचार करना यह तो हुआ ज्ञान लक्षण और ज्ञान हुआ जीवका लक्षण। जैसे बच्चों को समझाया जाता है कि देखो जो चले फिरे, खाये पिये, आदि उसे जीव कहते हैं तो यह कोई जीवका लक्षण तो नहीं हुआ। यह तो उपलक्षण है, अथवा ऐसी ही अनेक बातें जीवके परिचयके सम्बन्धमें कही जायें तो वे सब उपलक्षण हैं, मुख्य लक्षण नहीं, ऐसे ही समझिये कि जो ये ८ गुण कहे गए हैं उनमें अनेक तो उपलक्षण हैं। लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं। किसी वस्तुका लक्षण कहा जाय और फिर उस लक्षणका भी लक्षण बताया जाय तो वह अर्थात् जो अन्तिम कथन है वह पूर्व लक्षणका उपलक्षण हो जाया करता है। तो इस प्रकार ये ८ गुण इन चार गुणोंके लक्षण होनेसे सम्यक्त्वके उपलक्षण कहलाते हैं और इन गुणोंमें कोई सीधे बाह्य लक्षण भी हैं। इसी बातको अब प्रकृतमें घटित करते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यथा सम्यक्त्वलभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोपलक्ष्यते भक्तिवात्सल्येनाथवार्हताम् ॥४६९॥

संवेगका लक्षण एवं सम्यक्त्वका उपलक्षण भक्ति तथा वात्सल्य—जैसे सम्यग्दर्शन का लक्षण सम्वेग बताया गया है वैसे सम्वेगके लक्षण बताये गए हैं भक्ति और वात्सल्य। यहाँ उपलक्षणको घटित करते हैं कि संवेग तो है सम्यक्त्वका लक्षण जो कि प्रशम आदिक चतुष्टयमें बताया गया है और संवेगके लक्षण हैं भक्ति और वात्सल्य। वे किस प्रकार हैं सम्यक्त्वके उपलक्षण, इसको अगले श्लोकमें स्पष्ट करेंगे, पर सामान्यतया यह जान लें कि यदि कोई पुरुष अरहंतदेवकी भक्ति करता है अथवा अरहंतके धर्ममें अरहंतकी भक्तिमें वात्सल्य रखता है तो समझना चाहिए कि उसके सम्वेगगुण प्रकट हुआ है। सम्वेग गुण की जानकारी से यह जाना जाता है कि इसके सम्यक्त्वगुण प्रकट हुआ है। तो सम्यक्त्वभावका लक्षण संवेग है और संवेगलक्षणक सम्यक्त्व, भक्ति और वात्सल्यसे उपलक्षित हो जाता है, इस कारण भक्ति और वात्सल्य सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं अर्थात् सम्यक्त्वके लक्षणभूत संवेगके लक्षण हैं। अब यह बतलाते हैं कि ये दोनों सम्यक्त्वके उपलक्षण किस प्रकार हुए अर्थात् इन दोनोंके द्वारा सम्यक्त्वका लक्षणभूत सम्वेग किस तरह लक्षित होता है? यह बात भक्ति और वात्सल्य का स्वरूप जाननेसे विदित हो जावेगी, अतः इन दोनोंका स्वरूप विश्लेषित करते हैं—

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥४७०॥

भक्ति एवं वात्सल्यका स्वरूपविश्लेषण—मन, वचन, कायकी शान्तिसे उद्धतता नहीं हो अर्थात् जहाँ मन, वचन कायकी उद्धता शान्त हो गयी हो, ऐसी स्थितिको भक्ति कहते हैं। किसी पुरुषके प्रति इसकी भक्ति है, यह कैसे जाना जायगा? उसके प्रति मन, वचन, काय उद्धत नहीं हों, उसके गुणोंके उन्मुख हो और मन, वचन, काय नम्र हों तब समझना चाहिए कि इसमें भक्ति गुण है, तो मन, वचन, कायका शमन हो और इस कारण उन योगोंकी उद्धतता न हो, इसका नाम भक्ति है। तो यह समझ जाइये कि जिसके चित्तमें ऐसी भक्ति है उसके सम्वेग गुण प्रकट हुआ है। जब तक धर्म और धर्मात्मामें अनुराग न जगे तब तक इसके मन, वचन और काय अनुद्धत कैसे बन सकते हैं? तो भक्ति सम्वेगका परिचायक है और सम्वेग सम्यक्त्वका परिचायक। इसी प्रकार वात्सल्यका यह अर्थ है कि किसी के गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिए चित्तमें उल्लास होना उसे वात्सल्य कहते हैं। वात्सल्यमें दूसरे के सुखकी वाञ्छा ही तो की जाती है। यह परमार्थ वात्सल्य है कि धर्म और धर्मात्माके गुणोंमें जो वात्सल्यता हो रही है, उसके लिए मनमें उल्लास जग रहा है। यह भी सम्यक्त्व गुण हुए बिना नहीं हो सकता। इस कारण यह वात्सल्य भी सम्वेगका लक्षण और सम्यक्त्व

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का उपलक्षण है, इसी बातको अगले श्लोकमें स्पष्ट करेंगे।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥४७१॥

संवेग और सम्यक्त्वका लक्षण और उपलक्षणपना भक्ति एवं वात्सल्यमें घटित होनेका विवरण—उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि भक्ति और वात्सल्यका संवेगमें अन्तर्भाव होता है। ग्रन्थान्तरमें जो सम्यक्त्वके आठ गुण कहे गये हैं बाह्य लक्षण और इस ग्रन्थमें चार लक्षण बताये गए हैं—प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, सो यहाँ यह देखा जा रहा है कि इन दोनों कथनोंका परस्पर विरोध नहीं है। सम्यक्त्वके बाह्य लक्षण तो ये चार हैं और उन ८ में कुछ तो सम्यक्त्वके सीधे-सीधे लक्षण हैं और कुछ सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं, तो भक्ति और वात्सल्य ही सम्वेग द्वारा सम्यक्त्वके उपलक्षण बताये गए हैं। तो उसमें भक्ति और वात्सल्यका लक्षणमात्र बताया गया था। अब इस श्लोकमें कह रहे हैं कि भक्ति और वात्सल्य सम्वेगके बिना नहीं हो सकते, सो सम्वेग तो सम्यग्दर्शनका लक्षण है और भक्ति वात्सल्य सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं। जिसका स्पष्ट भाव यह है कि भक्ति और वात्सल्यको देखकर यह जाना जाता है कि इस पुरुषमें सम्वेग गुण प्रकट हुआ है और संवेग गुणको देख कर यह जाना जाता है कि इस पुरुषमें सम्यक्त्व प्रकट हुआ है। तो सम्यक्त्वके लक्षणके लक्षण हैं ये भक्ति और वात्सल्य। जब किसी पुरुषमें निरखा जा रहा है कि मन, वचन, कायका ऊधम नहीं रहा इसका, मन, वचन, कायकी सरलतासे अच्छे कार्यमें प्रवर्तन कर रहा है, यह तो उससे जाहिर होता है कि इसका धर्ममें अनुराग है; संसार, शरीर भोगोंसे वैराग्य है तब तो मन, वचन, कायकी अनुद्धत प्रवृत्ति हो रही है तो इस भक्तिसे संवेग गुण पहिचाना गया। जब वात्सल्य निरखते हैं कि इस पुरुषको किसी गुणवानमें गुण निरखकर उसके उत्कर्षकी भावना इसके जग रही है अर्थात् गुणोंको देख करके हर्ष मान रहा है और उस गुणीके गुणके उत्कर्षकी भावना कर रहा है कि इसके गुण और अधिक प्रकट हों, इस तरहकी जो इनकी वृत्ति देखी जा रही है इससे विदित होता है कि इसके संवेगगुण प्रकट हुआ है। तो भक्ति वात्सल्य हुए संवेगके लक्षण और संवेग हुआ सम्यक्त्वका लक्षण।

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥४७२॥

प्रशम गुणका अभिव्यञ्जक निन्दन और गर्हण—अब निन्दन और गर्हण, इन दो गुणोंके विषयमें कहा जा रहा है कि ये भी सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं अर्थात् निन्दन और गर्हण देख करके प्रशम गुणका परिज्ञान होना इसके कितनी बड़ी शान्ति है और दूसरोंके प्रति इसके कषायभाव नहीं जगता है, यह बात निन्दा और गर्हा की प्रवृत्तिसे जानी जाती है और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रशम गुणसम्यक्त्वका लक्षण कहा ही गया है। तो यह तो प्रसिद्ध ही है कि प्रशम गुण दर्शन मोहनीयके उदयके न रहनेके कारण होता है। जब दृष्टिमोह समाप्त हो गया उस कालमें जो आत्मामें दर्शन और कषायोंकी मंदता होती है, उसमें जो प्रशम गुण प्रकट हुआ है ऐसा प्रशम गुण मिथ्यात्वमें नहीं रह सकता। तो प्रशम गुण तो हुआ दर्शन मोहनीयके उनुदयमें और ऐसे प्रशम गुणका बाह्य अभिव्यञ्जक है निन्दन और गर्हण। निन्दन और गर्हणका स्वरूप आगेके श्लोकोंमें कहा जायगा। उससे यह प्रकट हो जायगा कि निन्दन और गर्हणका भाव प्रशम गुणका अभिव्यञ्जक है। अभिव्यञ्जकका अर्थ है प्रकट करने वाला। प्रशम गुण इस आत्मामें है—यह बात लोगोंको कैसे विदित हुई, उसका उपाय है निन्दन और गर्हण। अर्थात् निन्दन और गर्हणसे महात्माका प्रशम गुण समझा जाता है। उसी निन्दन और गर्हणके स्वरूपको क्रमशः बतावेंगे।

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि।
पश्चात्तापकरो बन्धो नाऽपेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥४७३॥

निन्दन गुणका स्वरूप—ये रागादिक दुष्ट कर्म जो कठिनतासे दूर किए जा सकते हैं उन रागादिकोंके विषयमें ऐसा विचार करना कि ये रागादिक तो पश्चात्तापके उत्पन्न करने वाले हैं अर्थात् रागादिकका फल बहुत बुरा है। मुझमें जो रागादिक भाव हो रहे हैं—ये दुष्टभाव मेरे शील स्वभावके अनुकूल भाव नहीं हैं, इस तरह अपने रागादिक भावोंको निन्दा के रूपमें देखें तो उसका नाम है निन्दन। कोई अपने अपराध, अपने दोषकी निन्दा कब कर सकता है जब उसमें मंद कषाय हो, प्रशम गुण प्रकट हुआ हो, दर्शनमोहका अनुदय रहनेके कारण भीतरमें एक स्वच्छता प्रकट हुई हो वहाँ ही यह झाँकी आ सकती है और वहाँ ये अपने दोष नजरमें आ सकते हैं। जब बहुत ही गंदा कीचड़ वाला पानी होता है तो उस पानी में कीचड़ भी नजर नहीं आता। पानी व कीचड़ सब एकरस याने एकमेक दृष्टिगत होते हैं। कीचड़ नजर तब आये जब कि अगल-बगलका पानी साफ हो और कीचड़में कीचड़का अंश है, पानीमें पानीका अंश है, यह दीखे। जो कीचड़ पानीमें एकमेक हो गया तो फिर उस कीचड़का कहाँसे दर्शन हो? तो कीचड़का पता उस जलसे पड़ेगा जो जल स्वच्छ है, शान्त है, प्रशम है और फिर भी क्वचित् थोड़ी गंदगी हो तो वहाँ गंदगीके दर्शन किए जा सकते हैं। ऐसे ही समझिये कि जहाँ दर्शनमोहका उदय चल रहा है, सारा ही आत्मा गंदा हो रहा है वह आत्मा अपनेमें दोषोंकी परख कैसे कर सकता है? वह तो दोषात्मक ही अपनेको ग्रहण कर रहा है। जैसे कि पूरे मलिन पानीको लोग कीचड़रूप ही निरखा करते हैं, वहाँ कीचड़का अलग दर्शन कहाँ हो सकता है? किन्तु जिसके दर्शनमोहका अनुदय है, स्वच्छता प्रकट हुई है, अतः प्रशम गुण प्रकट हुआ है, अपने स्वरूपको निरखनेके अभ्याससे जिसके गुणोत्कर्ष हुआ है, ऐसा पुरुष

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही तो अपने आपमें रहे सहे दोषोंकी निन्दाका भाव करता है। तो इन दुर्वार रागादिकमें जो कि दुष्टकर्म रूप हैं उनमें यह विचार करना कि ये तो बन्धके कारण हैं। ये महान् संतापको उत्पन्न करने वाले हैं, साक्षात ये संतापस्वरूप हैं, ऐसे अपने दोषोंको निरखना सो निन्दन कामंका गुण है। ऐसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके लिए ये रागादिक भाव न तो अपेक्ष्य हैं और न उपेक्षित होना चाहिए अर्थात् ये रागादिक भाव अपेक्षित नहीं हैं। इनकी अपेक्षा न करना चाहिए, इनका लगाव न रखना चाहिए और ये रागादिक भाव उपेक्षाके योग्य भी नहीं हैं कि ये रागादिक हो रहे हैं तो होने दो, इन समस्त रागादिक भावोंको तो उस तरहसे खोज-खोज-कर धुन देना चाहिए जिस तरहसे धुनिया रुईको धुन देता है। धुनिया जब रुई धुनता है तो वह उसके अंदर पड़ी हुई एक-एक फुटकीको छाँट छाँटकर, खोज खोजकर धुन डालता है। इसी तरहसे इन रागादिक भावोंको तो खोज-खोजकर धुन देना चाहिए। इनकी अपेक्षा करना योग्य नहीं है कि हो रहा है तो होने दो। इस तरह ज्ञानीके आत्मदोषके प्रति जो निन्दनका भाव है वह सम्यक्त्वका उपलक्षण है अर्थात् निन्दन वृत्ति द्वारा जाना जाता है कि यहाँ प्रशम गुण प्रकट हुआ है और प्रशमगुणकी व्यक्तिसे ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व प्रकट हो गया है। प्रशम गुणका ऐसा भाव समझिये कि जैसे बरसातमें पानी जगह जगह इकट्ठा हो जाता है और जब असौजका महीना पूर्ण होनेको होता है, जब शरदऋतुकी जवानी होती है उस समय पोखरे शान्त हो जाते हैं, उनका कीचड़ नीचे बैठ जाता है, स्वच्छ जल दिखने लगता है। ऐसे ही प्रशमगुणका आत्मामें भी प्रभाव होता है कि जब इस तत्त्वदर्शनरूप शरदऋतुकी जवानी आती है तो यहाँका वह सब गंदा उपयोग जो पहिले हो रहा था रागादिककी बरसात में तो वह सब उपयोग ऐसा शान्त हो जाता है कि मंदकषाय होना, ठीक वृत्ति होना, सही उपयोग चलने लगना—ये सब अच्छाइयाँ प्रकट हो जाती हैं। ऐसे प्रशम गुणके समय कदाचित् कहीं छिटकी रह गई हो थोड़ा कारण पाकर, जैसे कि कुछ वहाँ कीचड़का कहीं उठान हो गया हो तो वह भी दिख जाता है, उस समयमें इसके उसके उसके प्रति निन्दाका भाव रहता है। क्योंकि यह संतापस्वरूप उत्पन्न होता है, ऐसी निन्दा प्रशमगुणका अभिव्यञ्जक है।

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥४७४॥

गर्हण गुणका स्वरूप—इस श्लोकमें गर्हणका स्वरूप कहा गया है। गर्हण सम्यक्त्वका उपलक्षण है। पंचगुरुवोंकी साक्षीसे और अपने आपकी साक्षीसे मानो स्वयं ही यह निर्णायक है, स्वयं ही बड़ा अधिकारी यह परमशरण है, इसको मैं सुनाऊँ, इस तरहके भावों से और बाह्यमें पञ्चगुरुवोंके साक्षीसे कर्मोंका नाश करनेके लिए जो शक्त्यनुसार प्रमादरहित होकर रागका त्याग करना होता है उसे गर्हण कहते हैं। शक्तिके अनुसार राग त्यागका

http://www.jainkosh.org

करना चाहिये। यह यहाँ एक संकेत दिया है। इसका अर्थ यह न लगाना कि जैसे कि प्रमादी जन शक्तितः त्याग और शक्तितः तपका अर्थ लगाया करते हैं। देखो शक्तिके अनुसार त्याग करिये—शक्तिसे ज्यादह त्याग न कर बैठना। शक्तितः त्याग क्या ऐसी नियमितताको जाहिर कर रहा है अथवा कायरता की ओर प्रेरणा दे रहा है कि देखो शक्तिसे अधिक आचरण न करना चाहिए, चाहे कम हो जाय सो भैया! यह भाव नहीं है शक्तितः त्यागका, किन्तु हममें जितनी शक्ति पायी जा रही है सब शक्ति लगाकर पूर्ण रूपसे शक्तिका उपयोग करके दोषोंका त्याग करें। तो इसी तरह कह रहे हैं कि शक्तिपूर्वक उस कर्महानिके लिए रागादिकभावोंका त्याग करें पंचगुरुवोंकी साक्षीपूर्वक, इसे कहते गर्हा। अब आप अंदाज करलो कि इस ज्ञानमें कैसा उत्कृष्ट प्रशम गुण प्राप्त हुआ है? एक तो अपनी निन्दाकी बात कहना इस लोकमें बड़ा दुस्तर मालूम होता है और फिर किसी धर्मात्माके समक्ष अपने दोषोंकी बात कहना यह कितना आत्मवीरताका काम है? तो इतनी वीरता प्रशम गुणके बिना कैसे प्रकट हो सकती है? तो पंचगुरुवों की साक्षीपूर्वक तथा उनके साथ ही साथ अपने किए हुए दोषोंकी निन्दा करना, उसके साथ-साथ अपने आत्माकी साक्षी रखते हुए निन्दा करना इसका नाम है गर्हा। ऐसा गर्हण नामका गुण प्रशमका सूचक है। अतः यह गर्हण भी सम्यक्त्वका उपलक्षण है।

अर्थादितद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम्।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥४७५॥

प्रशमगुणगर्भित सम्यक्त्वका उपलक्षण निन्दन और गर्हण—उक्त प्रसंगके निष्कर्षमें कहा जा रहा है कि कषायोंका वेग न होनेके कारण, उदयमें रहनेके कारण जो प्रशम गुण प्रकट हुआ है, ऐसे प्रशमगुणके धारक सम्यग्दृष्टिके निन्दन गर्हण भी प्रकट होता है। तो ये निन्दन और गर्हण सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं, अर्थात् सम्यक्त्वका लक्षण तो प्रशम है और प्रशमके लक्षण निन्दन और गर्हण गुण हैं। सो सम्यक्त्वका उपलक्षण निन्दन गर्हण सिद्ध हुआ, क्योंकि उस प्रशमी पुरुषके कषायोंका बेग नहीं पाया जा रहा है और कषायोंका जब उदय न हो तब ही निन्दन और गर्हणकी वृत्ति बन सकती है। साधुजन निःसंकोच होकर अपने हितैषी गुरुवोंसे, अपने समस्त दोषोंकी आलोचना करते हैं तो वे अपने आपपर बड़ी दया रख रहे हैं। इन साधुवोंका यह परिणाम होता है कि अपने किए हुए दोषोंको जब उगल दे, गुरुके सम्मुख रख दें तो इस उगलनेके साथ ही उन दोषोंका भार कम हो जाता है और फिर उसके प्रति आचार्य जो प्रायश्चित दे उसे करनेमें वे अपनेको बड़ा धन्य मानते हैं और इसमें गुरुकी बड़ी कृपा अपने आप पर समझते हैं कि जो मुझे इस प्रकार प्रायश्चित्त देनेकी करुणा की है, ऐसी भीतरमें अभिरुचि, इस प्रकारका हर्ष इन साधुवोंको क्यों हुआ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस कारण हुआ कि उन्हें मुक्तिकी वाञ्छा है, शरीरके संकटोंसे कर्मोंसे निवृत्त होनेकी उनके मनमें अभिलाषा है। तो इतने बड़े भारी कामके लिए जो उपाय बताये गए हैं उनको वे निःसंकोच करते हैं। उन्हें दुनियाका संकोच नहीं रहता। किसीने मेरे दोषोंको सुन लिया तो उससें मेरा क्या बिगाड़ हुआ, ये दोष मेरे आत्मासे निकल जाते हैं और मैं अपनेको निर्दोष पा लेता हूं तो वह तो मेरे लिए ऋद्धि सिद्धि मिल गई है। तो इस तरह अपने दोषोंको निन्दन और गर्हणका जो कार्य है वह यों ही यथा तथा साधुजनोंसे अशक्य है जो वास्तविक स्वानुभवसे हीन है, परन्तु ऐसा साधु निन्दन गर्हण कर पाता है जो स्वानुभूतिसनाथ है। तो यह निन्दन और गर्हण प्रशम गुणका सूचक है और प्रशम सम्यक्त्वका सूचक है। इस तरह ये निन्दन गर्हण जो ग्रन्थान्तरमें बताये गये हैं ये सब सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं और कुछ इसमें सम्यक्त्वके साक्षात् लक्षण हैं—जैसे उपशम जो प्रशमका ही नामान्तर है, अनुकम्पा सम्वेग ये तो सीधे सम्यक्त्वके लक्षण हैं ही। और निन्दन, गर्हण, भक्ति, वात्सल्य—ये सब सम्यक्त्वके उपलक्षण कहे गए हैं।

शेषमुक्तं यथाम्नायात् ज्ञातव्यं परमागमात्।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥४७६॥

सम्यक्त्वगुणोंके सम्बन्धमें शेष कथनकी यथाम्नाय परमागमसे ज्ञातव्यताका निर्देश एवं ग्रन्थकार द्वारा अपना लघुत्वकथन—अब इस प्रसंगमें उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार अपने विनयका प्रकाशन कर रहे हैं। सम्यक्त्वके लक्षणके वर्णनके प्रसंगमें कुछ वर्णन किया है और अन्य शास्त्रमें कहे गए ८ गुणोंके उनका उपलक्षणपना बताया गया है उसी प्रकारसे शेष जो कथन है वह भी आम्नायके अनुसार परमागमसे जान लेना चाहिए। यह परमागम सर्वज्ञ देवकी मूल परंपरासे चला आया है, ऐसे परमागमसे शेष वर्णनको समझ लेना चाहिए। ग्रंथकार कहते हैं—हम जैसे अल्पबुद्धिजन, आगमरूपी समुद्रके उत्कृष्ट पारको पानेके लिए कैसे समर्थ हो सकते हैं? देखिये—ग्रन्थकारके द्वारा वर्णित किए गए इन सब विषयोंको सुना ही है। कितना अपूर्व विषय है और कितना सम्यग्दृष्टिके अन्तस्तत्त्वका स्पर्श कराया है? इतना सब विशिष्ट वर्णन करनेके बाद ग्रंथकार कहते हैं कि हम जैसे जन उस आगमसमुद्रका पार पानेके लिए समर्थ नहीं हैं। जिनके इतनी तीव्र भक्ति हो, विनय हो, नम्रता हो अर्थात् लघुता प्रकाशन करना हो, ऐसे पुरुषोंके कथनमें कोई कमी आयी है या जानकर कोई त्रुटि की हो, कुछ इसमें त्रुटि हुई हो, ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता है। और भले ही अज्ञानी जन किसी बातका समन्वय न कर सकें, आगममें अनेक दृष्टियोंसे अनेक तरह कथन भी आ सकता है, उनका समन्वय न कर सकें और समन्वय दृष्टि भी न रखें, केवल एक दोषदर्शनका ही भाव रखें तो यह उनकी बात है। प्रभाचन्द्राचार्यने प्रमेयकमल मार्तण्डके प्रारम्भमें कहा है कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो दोष देखने वाले लोग हैं उनके लिए मेरे इस ग्रन्थका उपक्रम नहीं है, मैं उनको नहीं रच रहा हूं, किन्तु मैं अपने उपयोगकी शुद्धिके लिए और जो हित चाहने वाले लोग हैं उनके कुछ सहयोगके लिए हमारा यह प्रयत्न हो रहा है। सो ग्रन्थकारका जो भी यत्न होता है वह अपने और दूसरोंके कल्याणके लिए होता है। हमें उसका विधिपूर्वक अर्थ समझना चाहिए और उसमें दोषका दर्शन न करना चाहिए।

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्यनः ।।४७७।।

तत्त्वरुचिक जिज्ञासुकी सम्यक्त्वके अन्य लक्षणोंकी जिज्ञासा—सम्यग्दर्शनके स्वरूपके विषयमें और उनके चिन्होंके परिचयके सम्बन्धमें यहाँ जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा प्रकट कर रहा है कि प्रभो! सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें जो अब तक कहा गया है, क्या इसका लक्षण इतना ही है या अन्य कुछ भी लक्षण है? अब तक सम्यक्त्वके लक्षणोंमें श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, आचरण, प्रशम सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, निर्वेग, भक्ति, वात्सल्य, निन्दन और गर्हण इतने लक्षण बताये हैं, और उन लक्षणोंमें यह भी स्पष्ट किया गया कि ये सभीके सभी यदि सम्यक्त्वके साथ हैं तो सम्यक् हैं और मिथ्यात्वसे रहित है, स्वानुभूतिके बिना हैं तो वे सब आभास हैं। तो ये लक्षण बताये गए सम्यक्त्वके तो उनको सुनकर जिज्ञासुके यह जिज्ञासा हुई है कि क्या इतने मात्र ही सम्यक्त्वके लक्षण हैं या अन्य कुछ भी हैं। यदि अन्य कोई लक्षण हैं तब फिर इसको आज बताओ। आज ही क्या, अभी बताओ। यहाँ जो अद्य शब्द दिया है जिसका आज भी अर्थ होता है और अभी भी अर्थ होता है। इस जिज्ञासुको इतनी उत्सुकता हुई है सम्यक्त्वका स्वरूप जाननेकी कि उसे इतना धैर्य नहीं है कि कल सुनाओ तो मैं सुनानेको राजी हूं। जो बात मुक्तिके लिए है, आनन्दके लिए है और स्वाधीन है, अपने आपके स्वरूपसे सम्बंधित नहीं है उसके लिए देर क्यों होना चाहिए? वह तो एक अपने कल्याणस्वरूप है। तो जिज्ञासु सम्यग्दर्शनके अन्य लक्षणोंके जाननेकी इच्छा प्रकट कर रहा है।

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये।
लक्षणं च गुणश्चाङ्ग शब्दाश्चैकार्थवाचकः ।।४७८।।

सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्गोंकी सूचना—उक्त जिज्ञासाके समाधानमें कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन अष्ट अंगसहित प्रसिद्ध है और अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन है। यह बात तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। तीनों लोकोंमें कौन-कौन प्रसिद्ध कर रहा होगा इस सम्यग्दर्शनको तो अंदाज करो कि स्वर्गोंमें देव इन्द्र वगैरह तो बड़े-बड़े विवेचनोंके साथ वर्णन करते ही हैं, वहाँ पर भी चर्चा चलती है धर्मकी। मध्यलोकमें चर्चा स्पष्ट हो ही रही। उनका प्रयोगरूप भी हो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहा कि सम्यक्चारित्र तक प्राप्त कर लेते हैं और अधोलोकमें जो भवनवासी व्यन्तर रहते हैं वे यद्यपि सम्यक्त्वसहित उत्पन्न नहीं होते, लेकिन पर्याप्त होनेके बाद उनके योग्यता तो है कि वे सम्यक्त्व पैदा कर सकें। और वहाँ चर्चायें भी होती होंगी, तो यह सम्यग्दर्शन अष्टांग सहित है, ऐसा तीन लोकमें प्रसिद्ध है। इन आठोंको अङ्ग कहा है। इनका जव स्वरूप आयगा, निश्चयवृष्टिसे और व्यवहारदृष्टिसे जो वर्णन होगा, उससे जानेंगे कि सचमुचमें ये सम्यग्दर्शनके अङ्गकी तरह आचरण कर रहे हैं। जैसे अङ्गके समूहका नाम अङ्गी है और अङ्गोंमें से कोई अङ्ग कट जाय, गिर जाय तो जो दशा उस अङ्गीकी होती है समझिये कि उस प्रकारसे सम्यक्त्वकी बात होगी। तो ये जो ८ अङ्ग बताये जायेंगे उनको सम्यक्त्वके अङ्ग रूपसे बताया है। पहिले जो कुछ कहा गया था उसको तो लक्षण शब्दसे कहा। यद्यपि लक्षण, गुण और अङ्ग ये सब एकार्थवाचक हैं, फिर भी इनकी जो पद्धति है उसके अनुसार इनमें परस्पर भेद सिद्ध होता है। इन्हें अङ्ग इस कारण भी कहा है कि जैसे शरीरके अङ्ग शरीरसम्बन्धित और व्यवहृत भिन्न-भिन्न कामोंमें आते हैं और भिन्न-भिन्न स्थितियोंकी सूचना देते हैं, इसी प्रकार ये अङ्ग भी सम्यग्दर्शनके होने वाले कार्योंकी सूचना देते हैं। इसके नाम स्वयं अङ्ग कहे जा रहे हैं और उन नामोंके संक्षिप्त स्वरूपके साथ वहाँ यह भी जानने में आयगा कि ये शरीरके अङ्गोंकी तरह किस तरह काम करते हैं?

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम्।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढ़ता ॥४७६॥
उपवृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोप्यस्ति प्रभावना ॥४८०॥

सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्गोंका नामनिर्देश—८ अङ्गोंके ये नाम हैं—निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। निःशंकितका अर्थ है शंका न करना। जिनेन्द्रभगवानके बारेमें आत्माके स्वरूपमें, वस्तुके स्वरूप में किसी भी प्रकारकी शंका न होना सो निःशंकित अङ्ग है। निःकांक्षित वाञ्छा न रहना, भोगोपभोगकी इच्छा न होना, अभिलाषा न जगना इसका नाम है निःकांक्षित। दर्शनमोहके उदयमें जिनके अभिलाषा होती है उनके अभिलाषायें न रहना उसे कहते हैं निःकांक्षित अङ्ग। निर्विचिकित्सा धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करते हुए ग्लानि न आना और अपना जो विभाव उत्पन्न हुआ, क्षुधा आदिक वेदनायें हुई उन वेदनाओंमें म्लान न होना, जैसे कि वेदना आने पर लोग उसे असह्य अनुभव करते हैं और दुःखी होते हैं ऐसी ग्लानि न करना, किन्तु उसका भी ज्ञाता द्रष्टा रहना, यह पीड़ा आयी है सो जायगी, उसकी उपेक्षा रखना और अपने धर्मलक्ष्यमें ही दृढ़ रहना सो निर्विचिकित्सा है। अमूढ़दृष्टि—कुपथ, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हितबुद्धि न होना, यहाँ हमारा कौन शरण है, इनके सम्बन्धसे मेरा लाभ है—ये सब तरंग न रहना, इसका नाम है अमूढ़दृष्टि। उपवृंहण (उपगूहन) अपने दर्शन ज्ञान चारित्रमें वृद्धि रखना, दूसरेके दोषोंको प्रकट न करना यह है उपगूहन। स्थितिकरण—स्वयं धर्मसे कभी चलित हो रहे हों अथवा दूसरे धर्मात्मा किसी कारण धर्मसे चलित हो रहे हों तो उनके योग्य वचनालाप करके उन्हें धर्ममें स्थिर कर देना इसका नाम है स्थितिकरण। वात्सल्य—धर्मात्मा पुरुषोंमें निष्कपट प्रेम होना इसे कहते हैं वात्सल्य। प्रभावना—आचरणके द्वारा इस धर्मकी महिमा प्रकट करना और अपने आपको अपनेमें प्रभावित करना सो प्रभावना है।

शरीरके अष्टअङ्गोंके दृष्टान्तपूर्वक सम्यक्त्वके अष्टअङ्गोंका विवरण— इन ८ अङ्गों का स्वरूप किस पद्धतिसे है ? इसका संकेत शरीरके ८ अङ्ग करते हैं। शरीरके ८ अङ्ग हैं–दो पैर, दो हाथ, मस्तक, छाती, पीठ और नितम्ब। जैसे जब कोई चलता है, कदम बढ़ाता है तो मानो वह दाहिना पैर आगे रखने को है तो कितनी निःशंकताके साथ वह अपने पैर आगे रखता है ? यदि शंका हो तो वह चल ही नहीं सकता। तो जैसे वह कदम बढ़ाता है तो जो पैर आगे रखता है उसमें निःशंकता झलकती है और जो पैर पीछे रहता है उसमें निःकांक्षता झलकती है। देखिये—पीछेके पैरको उठानेमें उस भूभागकी कितनी उपेक्षा बुद्धि रहती है ? उसे ऐसी अभिलाषा नहीं है कि मैं अपना पैर यहीं रहने दूं। उसकी तो दृष्टि ही उससे विमुख हो गयी है। इसी तरह निःकांक्षित अङ्गमें यह सम्यग्दृष्टि पुरुष भोगोंकी उपेक्षा कर देता है। उन भोगोंसे वह इस तरह कदम हटा रहा है जैसे कि दौड़ते हुएमें पीछेका पैर। यह है निःकांक्षित अङ्ग। अब देखिये निर्विचिकित्सा अङ्गकी बात। शौच शुद्धिके काम आया करता है बायां हाथ। हर एक मनुष्य शौच करके जब शुद्धि बायें हाथसे करते हैं तो यह रोजका काम है इस बायें हाथका, लेकिन रोज काम होने पर भी कोई उस बायें हाथसे ग्लानि तो नहीं करता, उस बायें हाथको कोई अछूत तो नहीं समझता, उसे कोई ग्लानिकी दृष्टिसे तो नहीं देखता। कभी इस बायें हाथमें फोड़ा फुंसी हो जाय तो लोग कितना उसकी खुशामद करते हैं, तो इसी तरह निर्विचिकित्सा अङ्गमें धर्मात्माजनों की सेवा करते हुए, उनके मलमूत्रादि उठाने की सेवा करते हुए या रोगादिकमें सेवा करते हुए उनमें ग्लानि नहीं करते ये ज्ञानी जीव। अमूढ़दृष्टि—जैसे दाहिना हाथ एक निर्णयका संकेत करनेमें कुशल है, किसीको किसी बातका निर्णय देना है तो वह दाहिने हाथकी अंगुली उठाकर निर्णय देता है कि यह तत्त्व इसी प्रकार है, अन्य प्रकार हो ही नहीं सकता। ऐसी अमूढ़दृष्टि अङ्गमें, तत्त्वनिर्णयमें दृढ़ता है और अतत्त्वकी ओर, वस्तुके मिथ्यास्वरूपकी ओर उसका निषेध है। उपगूहन अङ्ग–जैसे इन ८ अङ्गोंमें नितम्ब नामक अङ्ग हर एक कोई ढकते हैं, धोती पहिनते अथवा कोई साफी, तौलिया वगैरह बांध लेते। जैसे नितम्ब अङ्ग ढका जाता है इसी तरह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उपगूहन अङ्गमें धर्मात्मा जनोंमें कोई दोष हुआ हो तो उसे भी ढकते हैं, उसे समाजमें प्रकट नहीं करते हैं, हाँ उसे समझायेंगे मगर समाजमें दोष प्रकट करनेसे लोगोंकी इस धर्ममें ही अश्रद्धा हो जायगी कि यहाँ तो इस ही प्रकारके लोग रहा करते हैं। अतः दोषका उपगूहन किया जाता है। स्थितिकरण—जैसे शरीरके अङ्गोंमें पीठ एक अङ्ग है, इसपर बोझ रख लीजिए। बहुत बड़ा बोझ कोई ले जाना चाहता हो तो वह पीठपर लादकर ही ले जाता है। इसी प्रकार धर्मात्मा जनोंको धर्ममें स्थिर करनेका काम इस स्थितिकरणका है। वात्सल्य—जैसे लोग अपने बड़े साथियोंके प्रति वात्सल्यसे भरे हुए रहते हैं, दया वही, प्रेम वही, इसी तरह वात्सल्य अङ्गमें ज्ञानी जन धर्मात्माओंके प्रति निष्कपट वात्सल्यसे निष्कपट प्रीतिसे भरे हुए होते हैं। वात्सल्यमें की बात बतायी गई है। प्रभावना अङ्ग—जैसे शरीरके अंगोंमें मस्तक अंग एक प्रभावनाकारक होता है, दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है तो उसका मस्तक, मुद्रा आदिक निरखकर इसी तरह प्रभावना अंगमें धर्मकी प्रभावनाकी बात कही गई है। इन ८ अङ्गोंका क्रमशः वर्णन होगा, उनमें सर्वप्रथम निःशंकित अङ्गका लक्षण कह रहे हैं।

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥४८१॥

निःशङ्कित गुणका स्वरूप—शंका, भी, साध्वस, भीति, भय ये सब शब्द उस एक अर्थके ही कहने वाले हैं। जिस अर्थको इनमेंसे कोई शब्द भी जाहिर करता है, ऐसी शंका अथवा भयसे रहित जो आत्माका परिणाम है वही वास्तवमें निःशङ्कित अङ्ग कहलाता है। निःशंकित अङ्गका विस्तृत वर्णन होगा, उसमें यह पायेंगे कि इस सम्यग्दृष्टि जीवको अब किसी भी प्रकारकी शल्य नहीं रही। कोई कभी अपनेमें शंका और डर नहीं रहा। शंका और डर तब हुआ करता है जब यह जीव बाहरमें कुछ चाहे और बाहरमें कुछ प्रीति रखे तब उसमें जो बाधायें सम्भावित होती हैं या अपनी कल्पनामें बाधाओंको समझता है तो उससे वह डरने लगता है। तो डर इस जीवको तब तक है जब तक कि निज एकत्वगत अपने स्वरूपको न समझे। किसी भी समय कुछ भी स्थिति हो, यह मैं तो स्वयं सहज चैतन्यस्वरूपमात्र हूं और जो कुछ मुझमें होता है वह इस मेरेमें यहाँ ही होता है, इसके बाहर इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, जब यह परसे सम्बन्ध हटाकर अपने आपमें अपने स्वरूपको सम्बन्धित करता है, उपयोगमें लेता है उस समय इसके किसकी शल्य, किसकी शंका, किसका भय ? तो भयका आधार है मिथ्यात्व, बाह्य पदार्थोंसे अपना हित माननेकी श्रद्धा। जहाँ यह मिथ्यात्व दूर हो गया है वहाँ निःशंकित भाव प्रकट हो गया है। तो वह निःशंकित भाव सम्यग्दृष्टि जीवके सदा रहता है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि या गृहस्थ ज्ञानी पुरुष कुछ ऐसी घटनाओंमें भी है कि जहाँ उसे कभी थोड़ा भय करना पड़ता है। यों तो भय ८वें गुणस्थान तक कहा गया है, लेकिन वह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भय प्रकृति नामके उदयसे होने वाला कोई अबुद्धिपूर्वक परिणाम है। कदाचित् प्रमत्त दशामें कुछ ज्ञानमें आये ऐसा भय भी होता है लेकिन वह भय आत्मा सम्बन्धित नहीं है, मौलिक-भय नहीं है, इस कारण उस भयकी यहाँ चर्चा नहीं की जा रही है, किन्तु अपने स्वरूपमें, वस्तुवोंके स्वरूपके परिचयमें और जो कुछ जिनेन्द्रदेवके शासनमें बताया गया है उसमें इसके शंका नहीं रहती है। अतएव यह निःशंक रहता है। शल्य तो भीतरसे हुआ करता है। बाहरमें कोई उपद्रव आ गया और थोड़ा उसका प्रतिकार हो गया तो वह शल्य नहीं रहता। शल्य मिथ्यात्वसे सम्बन्धित होता है। दर्शन मोहका उदय होनेसे इस ज्ञानी जीवके निःशंकित गुण प्रकट हुआ है। उसी निःशंकित गुणका स्वरूप विस्तारपूर्वक आगे बताया जायगा।

अर्थवशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम्।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचरः ॥४८२॥

सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानमें सूक्ष्मान्तरितदूरार्थोंकी आस्तिक्यगोचरता—निःशंकित अंगके लक्षणमें यह कह रहे हैं कि प्रयोजनके वश जैनसिद्धान्तके सूत्रमें किसी प्रकारकी शंका न करना चाहिए। जैनसिद्धान्तमें जो आम्नायसे परमागममें कहा गया है उसमें कोई कोई बुद्धि रखने वाले पुरुष कभी शंका करते हैं तो उन्हें उसमें कुछ प्रयोजन है। प्रयोजन क्या होता है ? यद्यपि वह प्रयोजन अभक्ष्य सेवनके लिए नहीं होता, किन्तु जो विषय उन्होंने जाना है वह अर्थ यहाँसे निकालना चाहिए। ऐसा उनका प्रयोजन रहता है और उस प्रयोजनसे फिर उन्हें सूत्रमें शंका होने लगती है कि यह इस तरह कहा क्यों गया ? तो ऐसे प्रयोजनवशसे यहाँ सूत्रमें शंका न करनी चाहिए। देखिये जो सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती पदार्थ हैं वे तो इन्द्रिय द्वारा अनुपलभ्यमान हैं, फिर भी जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं उनके लिए ये सब आस्तिक्यके विषयभूत होते हैं। सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें चूंकि कोई विशेष प्रत्यक्षगोचर यहाँ नहीं है तथापि उनके आस्तिक्यमें ज्ञानियोंको सन्देह नहीं रहता। वे कौनसे सूक्ष्म पदार्थ हैं, कौन अंतरित हैं, कौन दूरवर्ती हैं ? इन सबका विवेचन आगे दो श्लोकोंमें किया जायगा। इस श्लोकसे हमें यह शिक्षा लेनी है कि जो पदार्थ हमारे सामने नहीं हैं उन पदार्थोंके सम्बन्ध में सिद्धान्तमें जो वर्णन आया है उस वर्णनमें अल्पज्ञताके कारण अल्पज्ञोंको शंकायें हो सकती हैं, किन्तु अल्पज्ञता भी रहने दो जब तक है, पर श्रद्धानसे मत चूको। उन पदार्थोंका भी जिस आगममें वर्णन है उस प्रकारकी श्रद्धा करनी ही चाहिए। जो मनचले लोग हैं, अपने मनको स्वच्छन्द रखने वाले हैं तथा अपनी बुद्धिपर अभिमान भी है ऐसे पुरुष सिद्धान्त कल्पित नरक स्वर्गोंकी बात सुनकर शंका करें यह तो उनके लिए एक खेल बना हुआ है; और तो क्या वे इतना भी साहस कर देते हैं कि सूत्रमें से आगममें से यह परिच्छेद हटाकर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अलग कर देना चाहिए तो ऐसी शंकायें और ऐसी मनचली बातें उनके खुदके अनर्थके लिए ही होती हैं। ऐसा सोचने वाले अथवा अपने प्रयोजनके वश वाक्योंसे कोई भिन्न अर्थ लगाने वाले या शंका करने वाले ये खुदको भी ठगते हैं और दूसरोंको भी हानि पहुंचाते हैं। हमारा कर्तव्य है कि जो जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कथित सूक्ष्म पदार्थ हैं, जो हेतुवों द्वारा खण्डित नहीं होते, यदि कोई इन्द्रियगोचर बाह्य चिन्ह नहीं है कि जिससे समर्थन हो तो कोई बाह्य चिन्ह ऐसा भी तो नहीं है कि जिससे खण्डित हो बल्कि युक्तियाँ उन्हें सिद्ध भी करती हैं। ऐसे सूक्ष्म पदार्थोंको आज्ञा प्रमाण मानना चाहिए। उनकी मान्यतामें आज्ञा प्रधान है। जैसे कोई पुरुष बुजुर्गोंकी कही हुई बातको प्रमाण मानता है, तर्कवितर्क नहीं करता, ऐसे ही वीतराग सर्वज्ञदेवके आगममें कही हुई बातमें तर्कवितर्क न करना चाहिए, क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथा-वादी नहीं होते। अब यहाँ बतावेंगे कि सूक्ष्मपदार्थ वे कौन हैं जिनके सम्बन्धमें कुछ शंका न रखना चाहिए।

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥४८३॥

ज्ञानियोंके आस्तिक्यगोचर सूक्ष्म पदार्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, काल-द्रव्य—ये सूक्ष्मपदार्थ कहलाते हैं। आत्मा भी सूक्ष्म पदार्थ है, अणु भी सूक्ष्म पदार्थ है। इसके सम्बन्धमें ज्ञानी जन इसके विवेचनमें सन्देह नहीं करते हैं, ये सूक्ष्म हैं क्योंकि इनको इन्द्रिय द्वारा हम जान नहीं सकते। इनके कोई चिन्ह ऐसे व्यक्त नहीं हैं जो इन्द्रियसे पहिचानकर उसे सिद्ध कर दें, किन्तु इन्हें युक्तियोंसे सोचिये, कुछ अनुभूतिसे भी सोचिये, जानिये और प्रधानतया जिनेन्द्रभगवानकी आज्ञा प्रमाणसे निरखिये—ये सब तत्त्व वास्तविक हैं। जो कुछ दिखती हैं ये बहुत मोटी चीजें हैं। इनके क्या दो टुकड़े नहीं होते ? हो जाते हैं। फिर उनमेंसे किसी एक टुकड़ेके क्या दूसरे टुकड़े नहीं होते ? हो जाते हैं। यों ऐसे टुकड़े करते जाइये, अब अन्तमें कोई ऐसा भी टुकड़ा बनेगा जिसका दूसरा टुकड़ा हाथसे नहीं किया जा सकता। तो भले ही आसक्तिके कारण उसके टुकड़े हाथ द्वारा न किए जा सकें, फिर भी उसमें ऐसी सम्भावना है कि और भी टुकड़े हो सकते हैं और फिर टुकड़े हो होकर कोई एक आखिरी अविभागी अंश जो कुछ रह जाय वह कुछ है कि नहीं ? यदि नहीं है तो ऐसे अंशोंके पिण्ड होने पर भी ये पदार्थ बन न सकेंगे। युक्तियाँ अणुकी सिद्धि करती हैं, ऐसे ही धर्मादिक पदार्थोंकी भी सिद्धि होती हैं। फिर भी इसकी प्रमाणतामें आगम मुख्य प्रमाण है। और जिसको आगमकथित ७ तत्त्वोंमें सन्देह न रहा, क्योंकि उन्होंने अपने आपपर घटित किया, अपनेपर बात बितायी, समझा, अनुभूति हुई तो जिसकी परीक्षा पूर्णरूपसे की जा सकती है ऐसा तत्त्व जब असत्य नजर न आया तो ऐसे तत्त्वोंका मार्गदर्शन करने वाले आप्तके प्रति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इस दृष्टिमें इतनी तीव्र भक्ति होती है कि उनके कथित सूक्ष्म अांतरित दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें कभी शंका ही नहीं होती। तो ये सूक्ष्म पदार्थ हैं धर्मादिक, क्योंकि इनके चिन्ह अाँखों द्वारा नजरमें नहीं अाते। ऐसे सूक्ष्म हैं फिर भी तत्त्वज्ञानीके अास्तिक्यके विषयभूत ही हैं।

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः।
दूरार्था भाविनोतीता रामरावणचक्रिणः ॥४८४॥

ज्ञानियोंके ज्ञानमें अास्तिक्यगोचर अन्तरित व दूरवर्ती पदार्थ—अन्तरित पदार्थ क्या होता है? वह पदार्थ जिसका बहुत बड़ा भारी अन्तर है? जिस अन्तरके कारण उनका अाँखोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता है, जैसे द्वीप, नदियाँ, पर्वत अादिक पदार्थ। जो परमागममें धातकी खण्डादिक द्वीप बताये गए—गंगा, सिन्धु अादिक नदियाँ, हिमवान अादिक पर्वत बताये गए। जो भी रचना कही गई यह अाँखों कहाँ दिखती? क्योंकि ये अन्तरित हैं, हजारों लाखों योजन दूर हैं, तो ऐसे पदार्थ जिनका कि क्षेत्रकृत अन्तर है, जो अाँखों नहीं दिखते, लेकिन तत्त्वज्ञ पुरुषोंको, श्रद्धानी पुरुषोंको परमागमकथित इसमें सन्देह नहीं होता। ये अन्तरित पदार्थ हैं और बहुत दूरवर्ती पदार्थ हैं राम रावण अादिक, जो कि हो गए हैं, अथवा जो अागे होंगे। परमागममें जिनका वर्णन है, भविष्य कालमें भरत क्षेत्रमें कौनसे २४ तीर्थंकर होंगे, उनका नाम अभीसे लिखा है। तो जो हो चुके हैं, जिनका परमागममें वर्णन है वे दूरवर्ती पदार्थ हैं, बहुत दूर कालके पदार्थ हैं किन्तु श्रद्धानी पुरुष को इसमें भी सन्देह नहीं होता। होते हैं ये सब। पद्मपुराणमें रावणके पूर्वजोंके कितने वर्णन अाते हैं और करीब करीब १०० पीढ़ी तकके तो नाम भी लिखे होंगे। जैसे रामके पिता दशरथ और उनके पिता अनन्तरथ .... ऐसे बहुतसे नाम लिखे हैं। कुछ पीढ़ियोंके नाम लिखकर फिर अन्तर डालकर विशिष्ट चरित्र बतानेके लिये उस परम्परामें फिर पुराण पुरुषोंका वृत्त लिखा। उनके ऐसे बहुत से पुत्र हो गए हैं, फिर नाम शुरू कर दिया है। तो ऐसे अनेक नाम और क्रमबद्ध उनका अाख्यान सहित वर्णन है, तो यह किसी विशिष्ट ज्ञानीके ज्ञानमें अाया तब वर्णन किया। तो बाहरी पदार्थोंके सम्बंधमें जो कुछ भी वर्णन है परमागममें वह भी सत्य है और ज्ञानी पुरुषके अास्तिक्यके विषयभूत है। यहाँ साथ ही यह भी समझना चाहिए कि सूक्ष्म अान्तरित दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें जो वीतराग सर्वज्ञके परमागममें वर्णन है वहाँ उसको क्या विषयका या स्वार्थका प्रयोजन था? कुछ भी प्रयोजन न था। तो जो निःस्वार्थ हैं, विश्वहितैषी हैं और तत्त्वभूत मर्म जिन्होंने प्राप्त किया है और अपने अात्मस्वरूपमें मग्न होनेकी धुन बनाये रहते हैं, ऐसे महर्षि संत जब कुछ वर्णन करने लगे थे तो उनको कोई स्वार्थ तो न था कि मेरे इस विषयकी पूर्ति भी हो और लोगोमें मेरे धर्मपनका भी प्रकाश रहे, किसी भी प्रकार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का स्वार्थ न था। उनके बारेमें असत्यताकी बात कैसे सम्भव हो सकती है ?

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषाँ क्वाथसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सत: ॥४८५॥

दर्शनमोहका उदय होनेसे मिथ्यादृष्टिके सूक्ष्मान्तरितदूरार्थविषयक असंशय ज्ञानकी असंभवता—इन विप्रकृष्ट पदार्थोंके सम्बन्धमें सम्यग्दृष्टियोंका नि:संशय ज्ञान हो नहीं सकता। उसका कारण है संशयज्ञानका हेतुभूत दर्शनमोहका उनके उदय पाया जा रहा है। दृष्टिव्यामोहका प्रताप यहींसे समझ लीजिए कि ज्ञानस्वरूप आनन्दधाम यह आत्मा स्वयं एक परिनिष्ठित पदार्थ है, स्वयं है, किन्तु लोगोंके कैसा वह बीचका पर्दा पड़ा हुआ है ? उपयोग और आत्मस्वरूप, इनके बीच कौनसा वह पर्दा पड़ा हुआ है कि यह उपयोग उस आत्मस्वरूपमें नहीं देख पा रहा है। वह पर्दा भी बड़ा विचित्र है। जीव है वही एक उसही में अंतस्तत्व है। जिसका ध्यान करके योगीजन अपना कल्याण पा जाते हैं। ऐसा स्वरूप है उसमें समझने वाला भी वहीं है और वहाँ द्वैत तो कुछ है ही नहीं। वही ज्ञानमय पदार्थ है, किन्तु उनका उपयोग अपने आपमें बसे हुए अंतस्तत्त्वकी ओर नहीं जाता, ऐसा होनेमें बीचमें कौनसी रुकावट है ? वह रुकावट है दर्शन मोह, विभ्रम, पर्यायबुद्धि। जो पर्यायपायी है जीवने द्रव्यव्यञ्जन पर्याय अथवा गुणपर्याय, उस ही पर्यायमें यह अपनेको अहंरूप अनुभूत कर रहा है। यह एक ऐसा विचित्र आवरण है कि जिस आवरणके होनेपर इसका उपयोग आनन्दधाम परमशरण निजमें बसे हुए इस परमतत्त्वका दर्शन नहीं कर पाता है। तो ऐसे दर्शनमोहका उदय जिनके पाया जा रहा है उनको स्व और परपदार्थोंके सम्बन्धमें नि:संशयज्ञान कैसे हो सकता हैं और व्यवहारमें जितना जो कुछ ज्ञान कर रहे हैं ये मिथ्यादृष्टिजन वह क्या ज्ञानमें ज्ञान है ? जैसे कहावतमें है कि चोर चोर मौसेरे भाई। चोर-चोर कोई हों तो वे सब भाई बन्धु हैं और उनकी जब परस्पर कथा चलती है तो सबको यों लगता है कि यह बुद्धिमानीका काम करता है, यह ज्यादह कुशल है। हम विल्कुल चतुराईका काम करते हैं। वहाँ किसीको अपनी गल्ती भी नजर नहीं आती तो ऐसे ही यहाँ अज्ञानी अज्ञानियोंका झुण्ड जुड़ा हुआ है। ज्ञानी पुरुष तो विरले होते हैं। तो इन अज्ञानियोंको जो कुछ दिख रहा है, घर है, भाई हैं, सम्पदा है आदिक सारी बातें दिखती हैं, इन सबका व्यवहार भी चल रहा है। तो ऐसा ही सबका व्यवहार है। तो किसीको भी न अपनी गल्ती मालूम होती है, न दूसरेकी गल्ती मालूम होती है, ठीक ही तो है। यही तो घर है। यही तो हमारा धाम है, यही मेरा प्रयोजन है, यह ही शरण है। इस प्रकारका यहाँ ही विश्वासको लिए हुए हैं, इस तरहका ज्ञान कर रहा है। यह क्या ज्ञान है ? ज्ञान तो उसका नाम है जो ज्ञानीका उद्धार कर दे, अहितसे छुटाकर हितमें पहुंचा दे, उसे कहते हैं, ज्ञान। दर्शन शास्त्रमें ज्ञानकी परिभाषा एक साधारण रूपसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किया है कि जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कराये, करनेमें समर्थ हो उसे ज्ञान कहते हैं। दार्शनिक परिभाषा पा लिया। इसमें कितना मर्म भरा हुआ है ? लौकिक पुरुषोंको हित अहित समझते हुए जो समर्थ ज्ञान है वह उनका ज्ञान है। सम्यक्ज्ञान है या मिथ्याज्ञान है। इसका विचार तो दृष्टिमोहके होने या न होनेके आधारपर होगा। लेकिन लोकमें उनका भी ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तो उसमें भी वही तारीफ बसी हुई है कि हित की प्राप्ति कराये, अहितका परिहार कर दे। जैसे साँपको जान लिया कि यह साँप है तो लो उसका सम्यग्ज्ञान हो गया, क्योंकि बाधारहित स्थानपर यह पहुंच जायगा और बाधा वाले उस स्थानको छोड़ देगा, उस साँपसे दूर हट जायेंगे तो उसे हितकी प्राप्ति और अहित का परिहार मिलेगा, लेकिन परमार्थ तत्त्वमें यह कहा है कि इसका यह ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नहीं। जाननेको तो जान गए कि यह साँप है, पर वहाँ बुद्धिमें यह निश्चय नहीं बसा है कि यह मायामयी साँप है या असमानजातीय द्रव्यपर्याय है···। इसमें चेतनतत्त्व क्या है, अचेतन तत्त्व क्या है ? इसकी तो कुछ सुध ही नहीं है। तो दृष्टिमोहके भाव अभावके आधारपर चाहे सम्यग्ज्ञान हो, चाहे मिथ्याज्ञान हो, लेकिन यह सामान्य लक्षण दार्शनिकशास्त्रमें कितना सुन्दर कहा गया कि जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ हो वह ज्ञान है और फिर उसी सूत्रमें बताया है कि ऐसा ज्ञान ही प्रमाण होता है। तब यहाँ भी अपने को घटित कीजिए। मेरेमें वह ज्ञान बने जो मेरा वास्तविक हित कर दे और अहितसे दूर करदे। अहित हैं विषय और कषाय। जिन विकल्पोंमें हम विश्वास बनाये हैं, जिन विकल्पों के आधारपर हम कुछ उद्धतता मचा देते हैं, ये सह विकल्प इसके अहितरूप हैं। विकल्पमात्र में अहितका विश्वास न करना चाहिए और जो हितरूप है वह है निर्विकल्प स्व स्वरूप। उसकी दृष्टि हो, उपयोग हो, आश्रय हो तो वही मेरे लिए हितरूप बनेगा। ऐसे हितकी प्राप्तिमें लगा दे और अहितका परिहार करा दे, ऐसे ही ज्ञानपर बलि-बलि जाना चाहिए। उसपर हमें न्योछावर होना चाहिए। अपने आपका वह सर्वस्व जो अनादिसे माना जा रहा है उसका विस्मरण कर देना चाहिए। मैं आत्मा तो अकिञ्चन हूं, और यदि कुछ हो तो उस सबको स्वाहा करना चाहिये। स्वाहा करनेका अर्थ है त्याग करना। तो ऐसे उस ज्ञान की पूजाके लिए हमें क्या करना चाहिए ? इस ज्ञानके जो शत्रु हैं विषय कषाय, इन विकल्पों को स्वाहा करना चाहिए। ऐसा किए जानेसे ही आत्माके उद्धारकी सम्भावना है। और विषय कषायोंके विकल्पोंसे आत्मउद्धारकी सम्भावना नहीं है। ऐसा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो। उसके एवजमें हम क्या काम करें कि उसका बदला चुका सकें। ऐसा कुछ भी उपाय नहीं है। तभी तो देव शास्त्र गुरुके द्वारा जो उपकार होता है उसका बदला चुकाने लायक लोकमें कुछ भी चीज नहीं है। क्या उन्हें समर्पित किया जाय कि हम ऋणसे मुक्त हो सकें ? उनके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऋणकी मुक्ति तो व्यावहारिक किसी भी बातसे नहीं हो सकती है। हमें वह भान ही न रहे, उसके साथ ही जगतका कुछ भी भान न रहे ऐसी मग्नता हो तो वहाँ ऋण चुकानेका विकल्प न रहेगा। इस तरहसे तो चुकाया जा सकेगा, पर अन्य कोई वृत्ति ऐसी नहीं है कि जिसको समर्पण करके हम इस उपकारका बदला चुका सकें। भला बतलावो—जहाँ ऐसी दृष्टि हो गयी हो कि जिसके द्वारा हमारी शुद्ध आनन्दधाममें पहुंच हो, तृप्ति हो, सर्वसंकटोंसे सदाके लिए मुक्ति होती हो। उसकी उपलब्धिके बराबर जगतमें और वैभव ही क्या है ?

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षकस्याप्यसंभवात् ॥४८६॥

सम्यग्दृष्टिके परोक्ष पदार्थोंकी ज्ञानगोचरतामें शंकाकारकी आशंका—उक्त शंकाके समाधानमें यह कहा गया है कि सूक्ष्म अंतरित और दूरवर्ती पदार्थ ये सम्यग्दृष्टिके आस्तिक्यके विषयभूत हैं अर्थात् ये सब पदार्थ हैं, इनमें सम्यग्दृष्टिको संशय नहीं रहता। सो यह बात सुनकर शंकाकार यह कह रहा है कि ये सब तो परोक्ष पदार्थ हैं, इनका इन्द्रियके साथ सम्बन्ध होना ही असम्भव है। फिर ये पदार्थ सम्यग्दृष्टिके विषय कैसे हो जाते हैं ? सम्यग्दृष्टि हो तो आत्माका ज्ञान हो। आत्माको जानता रहे लेकिन मेरु परमाणु, राम, रावण, परमाणु आदिक जो पदार्थ विप्रकृष्ट हैं उनको यह सम्यग्दृष्टि कैसे जान जायगा ? अब इस शंकाका समाधान करते हैं।

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं दृश्यते महत्।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥४८७॥

सम्यक्त्वमाहात्म्यमें लोकज्ञानकी आस्तिक्यपुरःसरताका वर्णन करते हुए उक्त शंका का समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टिके जो सम्यक्त्वरूप महारत्न उत्पन्न हुआ है उसका ऐसा परमप्रताप है कि परोक्ष पदार्थके बोध करनेमें भी इस सम्यग्दृष्टि को एक सहज आस्तिक्यपूर्वक बोध होता है। इस जगतका ज्ञान सम्यग्दृष्टिको आस्तिक्यबुद्धि पूर्वक हो रहा है। जहाँ विपरीत अभिप्राय नहीं रहता, किसी बाह्य पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि का विकल्प नहीं रहता, उसकी ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टिका परविषय कभी जो ज्ञान होगा वह आस्तिक्यपुरस्सर होगा, इस बातको कोई दूसरा नहीं परख सकता है, अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन सम्यग्दृष्टिके परविषयक आस्तिक्यकी बातको नहीं जान सकता है। इसी बात को स्पष्टतया आगेके श्लोकमें कह रहे हैं।

नासंभवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः।
अतिवागतिशयः सर्वं योगिनां योगशक्तिवत् ॥४८८॥

सम्यग्दृष्टियोंके आस्तिक्यपुरःसर लोकज्ञान होनेके अतिशयकी योगशक्तिवत् अतर्क-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गोचरता—सम्यग्दृष्टि पुरुष आस्तिक्य बुद्धि करके जगत भरका ज्ञान कर लेता है। यह बात असम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शनका अद्भुत माहात्म्य है कि यह आत्माका प्रत्यक्ष किया सो तो विषय है ही। किन्तु सम्यग्दर्शनके होने पर दूरवर्ती पदार्थ, अतीत भावी पदार्थ, जिनके विषयमें वीतराग सर्वज्ञदेवका आगममें कथन है, उस सबको आस्तिक्यपूर्वक वह जानता है, यह भी एक सम्यक्त्वका प्रताप होनेकी एक कला है, लीला है। स्वभावमें तर्क नहीं किया जा सकता। सम्यग्दर्शनके होने पर ऐसा ही स्वभाव व्यक्त होता है कि वहाँ स्वविषयक यथार्थ प्रत्यक्ष तो होता ही है, किन्तु परविषयक परोक्ष पदार्थ विषयक भी ज्ञान उसके आस्तिक्य पुरस्सर होता है। जैसे कि योगियोंकी योगशक्तिका दूसरे लोग भान नहीं कर सकते। क्यों ऐसा हो गया? योगशक्तिका कितना सामर्थ्य है? इसे अन्य कोई क्या जाने? जैसे जब ऋषियोंका वर्णन आता है कि किसी ऋषिके अक्षीणमहारस ऋद्धि है तो वह जिस चौकेमें भोजन कर जाय उसमें इतना भोजन बढ़ जाता है कि चाहे चक्रवर्तियोंका कटक भी उसमें भोजन कर जाय फिर भी वह कम नहीं पड़ता। अथवा जिस स्थानपर अक्षीण संवास ऋद्धिधारी मुनि ठहर जाय वह स्थान चाहे कितना ही छोटा हो पर उसमें चक्रवर्तिका कटक भी आ जाय तो वह भी समा जाय। यह माहात्म्य किस बातका है? उस ऋद्धिका है। इस बातको सुनकर लौकिक जन तो एक गप्प जैसो मान लेंगे। तो योगियोंके योगका माहात्म्य क्या अज्ञानियोंके ज्ञानके गोचर होगा? नहीं होगा। तो इसी तरह समझिये कि सम्यग्दर्शन होने पर, विपरीत अभिप्रायके समाप्त होनेपर आत्मामें कैसा एक सहज विलास चलता है कि वहाँ स्वविषयक दृढ़ प्रत्यय है सो तो है ही, किन्तु आगम कथित परोक्ष पदार्थके विषयमें भी उसके आस्तिक्यपूर्वक प्रत्यय हो रहा है।

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥४८६॥

सम्यग्दृष्टिके स्वसंवेदनकी शुद्धता—जब मोह विपरीत भाव, परपदार्थोंमें आत्मत्व की बुद्धि, मिथ्यात्वभाव दूर हो जाता है तो विपरीत आशयके दूर होनेपर स्वयं ही ऐसा सहज विकास उत्पन्न होता है कि जिसका मेल आगमकथित घटनाओंसे हो जाता है। आत्मा के सम्बन्धमें परमागममें जो कुछ भी वर्णन किया गया है वह तो वहाँ वर्णनरूप है, किन्तु सम्यग्दर्शनके होने पर वह सबका सब वहाँ साक्षात् उतर जाता है। सम्यग्दृष्टि पुरुषका ज्ञान आत्माका अनुभव करने वाला है। शास्त्रोंमें भी यही शब्द बताया गया है कि सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव होता है, किन्तु वह स्वानुभव क्या है? इसको व्यावहारिक रूप कर लिया है सम्य-ग्दृष्टि जीवने। जो आगममें लिखा है वही यहाँ हुआ है, ऐसे सम्यग्दृष्टिका स्वसम्वेदन ज्ञान प्रत्यक्ष है और शुद्ध है, निःसन्देह है तथा सिद्धपदकी उपमा वाला है। सिद्ध प्रभुके भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सम्यक्त्व है तो उस सम्यक्त्वका क्या प्रताप है ? समस्त विपरीत अभिप्राय दूर हो गया है अथवा सम्यक्त्वका शब्दार्थ देखें तो उसका अर्थ है सम्यकपना, स्वच्छता। तो ऐसा सम्यक्पना सिद्धमें प्रकट है। स्वच्छतामें दर्शनमोहकृत कल्मषतायें नहीं हैं। तो ये दर्शनमोहकृत कल्मषतायें नहीं रहतीं तो यहां भी वह सम्यक्पना प्रकट होता है।

यत्रानुभूयमानेपि सर्वैरावलमात्मनि।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥४६०॥

सब ही जीवोंमें शुद्धात्मानुभवकी योग्यता होनेपर भी मिथ्यात्वकर्मके उदयमें जीवोंके स्वानुभवका अभाव—यद्यपि वह स्व, वह चैतन्यभाव आबालगोपाल सभीके अन्तःप्रकाशमान है और सभीमें उस शुद्ध आत्माका अनुभव हो सकता है, परन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीवों को उसका अनुभव नहीं होता। क्यों नहीं होता कि वहां मिथ्यात्वकर्मके उदयसे विपरीत अभिप्राय बन गए। क्यों विपरीत अभिप्राय बन गए कि वहां पर्यायबुद्धि उत्पन्न हुई। जिसको अपने अध्रुव असार विकार रूप पर्यायोंसे आत्मीयता जग गयी है उसकी तो सारी बातें ही उल्टी बन गईं, क्योंकि मूलमें जिस ज्ञानपर यह जीव अपने व्यवहारको निर्भर बना रहा है वह ज्ञान ही विपरीत बन गया है। तो शुद्ध आत्मवेदनशक्ति सभी आत्माओंमें अनुभूत होने योग्य है, सब पा सकते हैं। जीव सब चिदात्मक हैं, उनके स्वरूपमें चित्प्रतिभासको छोड़कर और है क्या ? वहां पिण्ड है नहीं। वहां रूप, रस, गंध, स्पर्श है नहीं। आत्मामें अन्य कुछ मिलता ही क्या है ? सिवाय चित्प्रतिभासके। वह प्रतिभासमय है, उसमें चेतना पायी जा रही है। तो जब उस चेतनके सिवाय और कोई स्वरूप वहां नहीं है तो क्या ये सब उस स्वरूपमें रहते हुए भी अपने स्वरूपका अनुभव न कर सकेंगे ? सब कर सकते हैं। और इतना ही क्या ? जो अभव्य आत्मा है वह भी चित्प्रतिभास स्वरूप है। उस ही स्वरूपमय उसका अस्तित्व है। तो जब स्वरूप ही सबका वही है तो क्या वह अनुभव न किया जा सकेगा ? अनुभव करनेकी योग्यता द्रव्यरूपमें तो सबकी हो सकेगी। अभव्यका आत्मा भी सब आत्माओंके समान है। यदि अभव्यके सम्यक्त्वगुण न हो और भी उसमें गुण पाये जाते न हों तो उनके आवरणभूत कर्मोंके आनेकी क्या आवश्यकता थी ? भीतके तो दर्शनमोह कर्म नहीं चिपका है। जो जीव पदार्थ हैं उनमें ही तो केवल ज्ञानावरण आदि आते हैं। क्या अभव्य जीवके केवल ज्ञानावरणका बंध नहीं है ? यदि नहीं है तो उसका अर्थ है कि यह जो केवलज्ञानशक्ति है उस शक्तिका आवरण है। भले ही उसके विकास करनेकी इसमें योग्यता नहीं है। और कभी भी विकास न होगा लेकिन जब हम द्रव्यसामान्यकी दृष्टिसे निरखते हैं, स्वभावको परखते हैं, तो वहां सब जीवोंमें साम्य है। भव्य हो, अभव्य हो, सिद्ध हो, सभी जीवोंमें वह स्वरूप साम्य पाया जाता है। तो यहाँ चर्चा ले लीजिए भव्योंकी ही। क्या ये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भव्य जीव अपनी इस शुद्ध आत्मवेदन शक्तिको प्रकट न कर सकेंगे ? कर सकते हैं, लेकिन मिथ्यात्वका ऐसा उदय है कि स्वच्छताका, उस सामान्यपनेका अनुभव नहीं हो सकता। इसमें मिथ्यात्व कर्मका उदय बाधक है। अर्थात् मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो विपरीत आशय है वह विपरीत आश्रय इसका बाधक है।

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि।
न तत्र वास्तवो भेदो, वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥४६१॥

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टिके आत्मामें शक्तिकी अपेक्षासे भेदका अभाव—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंके वर्तमान पर्यायमें स्वादभेद तो है पर दोनोंके स्वरूपमें वास्तविक कुछ भी भेद नहीं है, क्योंकि आत्मा दोनोंमें समान है। वह मूलद्रव्य जिस स्वरूपको लिए हुए है उसमें जो गुण शक्तियाँ पायी जाती हैं उनको निरखकर देखें तो सभी एक समान हैं। द्रव्य ६ बताये गए हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। उन द्रव्योंके विवेचनके प्रसङ्ग में न तो ७ द्रव्य कहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव, मिथ्यादृष्टि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, न भव्य अभव्यका भेद करके ७ भेद कहे गए हैं। तो इन भेदोंसे भी यह सिद्ध होता है कि मूलतः जीव जीव सब समान हैं। जैसे पुद्गल अणु पुद्गल अणु मूलतः सब समान हैं। भले ही उन अणुवोंमें यह भेद हो गया है कि ये आहारवर्गणाओंके परमाणु हैं। ये कार्माण-वर्गणाओंके परमाणु हैं। और उनमें परस्पर एक दूसरे रूपसे बदल जानेकी योग्यता निकट कालमें नहीं बन पाती है। फिर भी है तो सब समान ही। अणुका जो स्वरूप है उस स्वरूप दृष्टिसे वे सब एक समान हैं। ऐसे ही जितने भी जीव हैं वे सब स्वरूपदृष्टिसे समान हैं। सम्यग्दृष्टि वस्तुको जानता है, मिथ्यादृष्टि वस्तुको जानता है, लेकिन मिथ्यादृष्टि पुरुषने वस्तुको जानकर स्वरूप तो सही नहीं जाना, पर वस्तुको तो जाना ही है, किसी रूपसे जाना हो। वहाँ मिथ्यादर्शनके उदयसे यह इष्ट और अनिष्ट बुद्धि करता है। ज्ञानी पुरुषको परि-वार जन भी जिस स्वरूपमें हैं उसके स्वरूपसे ज्ञात होते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष उन परि-वारजनोंमें ऐसी इष्ट अनिष्ट बुद्धि करता है कि इससे ही मेरा जीवन है अथवा इनसे ही मेरा बिगाड़ होता है। तो मिथ्यादृष्टिको इष्ट अनिष्ट बुद्धि होती है और इष्ट अनिष्ट बुद्धि ही हो, इतनी ही बात नहीं, किन्तु उल्टा ज्ञान भी होता है। इष्ट अनिष्ट बुद्धिका आशय होने से उल्टा ज्ञान चलता है और मिथ्यात्वके उदयमें उल्टा ज्ञान चलता है। तो उसमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि होनेकी गुञ्जाइस रहती है। जैसे विषयोंकी अरुचि और तत्त्वज्ञानका उदय, इनमें परस्पर सहयोग भाव है कि जैसे जैसे विषय अरुचिकर होता जायगा वैसे ही वैसे तत्त्वज्ञान बढ़ता जायगा और जैसे-जैसे तत्त्वज्ञान बढ़ेगा वैसे ही वैसे विषयोंकी अरुचि भी वृद्धिगत होगी परस्परका सहयोग है, अथवा वास्तविक आत्माका आचरण द्रव्यदृष्टिपर निर्भर है और द्रव्यके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनुकूल आचरण द्रव्यदृष्टिका पोषक है। जैसे यहाँ परस्पर सहयोग है ऐसे ही यहाँ भी जानना चाहिए कि मिथ्यादृष्टिके इष्ट अनिष्ट बुद्धि होना यह पदार्थविषयक विपरीत ज्ञान का उत्पादक है और पदार्थविषयक विपरीत ज्ञान होना इष्ट अनिष्ट बुद्धिका उत्पादक है। इस तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिका वस्तुके स्वादमें भेद है। वस्तुको जानकर सम्यग्दृष्टि अपनेमें शुद्ध प्रभाव लाता है और मिथ्यादृष्टि अपनेमें अशुद्ध असर उत्पन्न करता है। इतने पर भी वास्तवमें इन दोनों आत्मावोंके स्वरूपमें भेद नहीं है। क्योंकि जैसे अनन्त गुण स्वरूप सम्यग्दृष्टिका आत्मा है उसी प्रकार अनन्तगुण स्वरूप मिथ्यादृष्टिका आत्मा है। उस आत्मामें जो स्वरूप-साम्य पाया जाता है उसका परिज्ञान सम्यग्दृष्टिको होता है, अज्ञानी जन नहीं कर सकते।

अत्र तात्पर्यमेवेतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः।
शङ्कायाः सोऽपराधोस्ति सातु मिथ्योपजीविनी ॥४६२॥

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंके आत्मशक्तिसाम्य होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके होने वाले भ्रमकी शङ्कापराधता—उक्त विवेचनका तात्पर्य यह जानना कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों आत्माओंके समान होनेपर भी तथा विषयभूत पदार्थ एक होनेपर भी अर्थात् जिस पदार्थको सम्यग्दृष्टि जान रहा है उसे मिथ्यादृष्टि भी जान रहा है। इस तरहसे विषयभूत पदार्थ भी एक हुआ, लेकिन मिथ्यादृष्टिको तो वहाँ भ्रम होता है और सम्यग्दृष्टिको वहाँ शंका नहीं रहती है। तो मिथ्यादृष्टिको जो भ्रम हो रहा है वह उसकी शंकाका अपराध है और वह शंका मिथ्यात्वसे हुआ करती है। जब जीवका अभिप्राय विपरीत हो गया, शरीर को उसने आत्मा मान लिया तो अब शरीरपर ही तो पोषणकी दृष्टि होगी और उसके पोषणके उपाय बाहरमें ये नाना प्रकारके निरखे गए। सो उनके पाने भोगनेके लिए ये उद्यम भी करेंगे। तो बाह्यपदार्थोंसे जो अपनी कोई व्यवस्था बनानेका भाव रख रहा है उसे जगह जगह शका और जगह जगह भय पड़ा हुआ है। एक स्वाधीन काम ही ऐसा है कि जिसमें शंकाका अवकाश नहीं है, कोई भय ही नहीं है। जैसे मानो आप अपने समाधिभावको सिद्ध करनेके लिए उतारू हो रहे हैं, मेरेमें वह समाधि भाव प्रकट हो, स्वानुभव, निर्विकल्प स्थिति इसके अतिरिक्त और कुछ वाञ्छा नहीं है, ऐसी एक निजस्वकी अनुभूतिकी ओर हो. आपकी तैयारी बन गई हो तो उस भावमें अब क्या उलझन है? क्या शंका है? क्या गम है? कोई शंका नहीं कर सकता है। अब कोई ऐसी निःशङ्कता नहीं कर सकता है तो उसमें कोई निज के भीतर बसे हुए दोषका ही प्रभाव है। वहाँ कोई बाहरी पदार्थ बाधक नहीं बन रहा है। और इस स्वानुभूति तैयारी वाले पुरुषके चित्तमें भी कोई बाहरी पदार्थ बाधक नहीं बन रहा है। आरब्धयोगीके ऐसा ही कर्मविपाक है कि जिससे सामने दृष्टिमें लक्ष्यमें होता हुआ भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसकी भेंट, उसका मिलन, उसमें मग्नता नहीं हो पाती है। जैसे कभी स्वप्नमें देखा हो कि निकट ही कोई उपादेय वस्तु पड़ी है, मूल्यवान चीज पड़ी है या जिसे पानेकी इच्छा हो रही है उसके पानेका यत्न कर रहा है, स्वप्नमें जो एक कल्पनाकी बात जग रही है, फिर भी वह जरा भी हाथ नहीं उठा पाता। या जरा भी वहाँ चल नहीं पाता। कोई दूसरा पुरुष भी नहीं है, कोई दिखने वाला भी नहीं है, मगर स्वयं ही उस स्वप्नमें ऐसी विवशता आती है कि वस्तु सामने पड़ी है, पर जरा भी हम छू नहीं पाते, ऐसी वहाँ एक अपने आपमें विवशताका अनुभव हो रहा है। यहाँ भी यह बात समझनी चाहिए कि ज्ञान होनेपर भी, लक्ष्य होनेपर भी जो हम उस एक स्वमें नहीं मग्न हो पाते, वहाँ ही हम निर्विकल्प होकर विश्रान्त नहीं हो पाते तो उसके यथायोग्य तैयारी होनेपर भी उसकी अनुभूतिका बाधक कारण कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, क्योंकि स्वयंमें ही कोई विषयकषायमें उद्भूतिरूप या उसकी संस्कार वासनारूप ही निर्बलता है। जहाँ पराधीनता कुछ भी न रहे और जब स्वाधीन काम करने चले तो वहाँ कोई शंका नहीं। परंतु परविषयक प्रोग्राम बनाया तो वहाँ पद-पदपर शंका है, भय है और व्यक्त विवशता है। तो स्वानुभवमें बाधक मिथ्यात्वकर्मका उदय है और मिथ्यात्व भाव ही उसमें बाधक है।

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम्।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥४६३॥

मनुष्योंके मिथ्यानुभवके कारणभूत शङ्कादोषके कारणकी जिज्ञासा—उक्त श्लोकमें यह कहा गया था कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंका आत्मा यद्यपि स्वरूपतः समान है तो ऐसे मिथ्यादृष्टिको भी तो तत्त्वके विषयमें भ्रम होता है और सम्यग्दृष्टिके भ्रम नहीं होता तो मिथ्यादृष्टिको भ्रम होता है, उस भ्रममें कारण है शंका अर्थात् स्वयंकी शंकाका अपराध मिथ्यादृष्टिके भ्रमका कारण है। तो इस समाधानको सुनकर शंकाकार पूछ रहा है कि मनुष्योंको जो मिथ्या अनुभव होता है उसका अपराध बताया गया है शंका। वह शंकासे होने वाला दोष है। तो अब यह बतलाओ कि शंका किस न्यायसे होती है और मिथ्या उपजीवनी बनती है, परतत्त्वके विषयमें होने वाली शंका किस कारणसे होती है और वह शंका किस तरह मिथ्यात्वका अनुबन्धन रखने वाली सिद्ध होती है? इसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥४६४॥

मिथ्यादृष्टिके भय व शङ्काका आधार सप्तभयसहितपना—मिथ्यादृष्टि पुरुषको जो तत्त्वमें भ्रम होता है उस भ्रमका कारण शंका है और उस शंकाका कारण यह है कि वह मिथ्यादृष्टि ७ भयोंसे सहित है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ७ भयोंसे जरा भी स्पृष्ट नहीं है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस कारण सम्यग्दृष्टिको शंका नहीं और भ्रम भी नहीं। इस श्लोकमें यह निर्णय किया गया है कि मिथ्यादृष्टि को जो भय रहता है उस भयके कारण शंका उत्पन्न होती है और भय भी क्यों है ? शंका भी क्यों है और भ्रम भी क्यों है ? ये सब बातें मिथ्यात्वके उदयके कारण होती हैं। इस प्रसंगमें मिथ्यादृष्टिके आशयमें तीन बातें निरखना है—उसे भय है, शंका है और भ्रम है। यद्यपि मिथ्यात्वसे सम्बन्ध रखनेके कारण तीन बातें एक अधिकरणमें हैं और एक साथ हैं फिर भी कौन सी वृत्ति किसरूप होती है ? ऐसी वृत्तिके लिए तीन बातोंका वर्णन समझना चाहिए। तो यहाँ तक यह सिद्ध किया गया कि मिथ्यादृष्टिके चूँकि मिथ्यात्व कर्म प्रकृतिका उदय है, उस उदयका निमित्त पाकर इसको शंका, भय, और भ्रम हुआ करते हैं। इस कारण इसके सही आस्तिक्यका बोध नहीं आ पाता है।

परत्रात्मानुभूतेर्वै बिना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढ़ानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥४६५॥

परानुभूतिकी सप्तभयहेतुता—मिथ्यादृष्टिको भ्रम बना हुआ है तत्त्वके परिज्ञानके सम्बन्धमें और इस भ्रमका कारण है शंका और शंकाका कारण है भय। यह भय किस बात पर होता है, इस बातका वर्णन इस श्लोकमें दे रहे हैं। परपदार्थोंमें आत्माका अनुभव हो तभी भय उत्पन्न होता है, परतत्त्वमें यह मैं हूं, इस प्रकारका या परसे मेरा हित है, स्वरूप सत्त्व है इस प्रकारका भान न हो तो भय उत्पन्न नहीं हो सकता। तो जो पर्यायमूढ़ जीव हैं, जिनके मिथ्यात्वकर्मका उदय है, आत्मतत्त्वमें जिनका चित्त नहीं है, ज्ञानमात्र चित्स्वभाव प्रतिभासमात्र उसका स्वरूप है, इस प्रकारकी जिनकी प्रतीति नहीं है उनको भय हुआ करता है। किन्तु जिन्होंने आत्मतत्त्वको समझ लिया है—यह मैं एक चैतन्य प्रतिभास स्वरूप हूं, इसमें आकाशवत कभी कोई भौतिक पदार्थका सम्बन्ध ही नहीं है अथवा किसी पदार्थके द्वारा इसमें कोई चोट ही नहीं पहुंचती है। जो चोट पहुंचती है, क्लेश होता है वह अपने ही उस विचित्र अमूर्त मूर्त परिणमनसे ही कष्ट पहुंचाता है, ऐसा जिनको निर्णय है उनको भय कहाँ से होगा ? तो भयका कारण यहाँ बताया गया है परपदार्थोंमे आत्मीयत्वकी अनुभूति। सो देखा ही जा रहा है इस लोकमे जिन पुरुषोंको जिस किसीमें आत्मीयताका अनुभव हो रहा है, यह मैं हूं, यह मेरा है, जिसे किसी परपदार्थमें लगाव बन रहा है उसको उस परसे विघ्न आया तभी तो भय उत्पन्न होता है। जैसे किसीको मरणभय लगा हुआ है उसकी भी यही दशा है। चूँकि शरीरको मान रखा है कि यह मैं हूं तो उस शरीरमें जब कोई बाधा आती है या सम्भावना होती है कि यह इस तरह मिटने वाला है तो समझता है कि मैं ही मिटने वाला हूं, तब उसे भय उत्पन्न होता है। तो जिस परपदार्थमें जो कि अत्यन्त भिन्न स्थानपर हैं उनका बिगाड़ होने पर 'यह मैं नहीं हूं' इस कारणसे अपने आपमें भय नहीं किया जाता है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इसी प्रकार अति निकटवर्ती देह आदिकके भी बिगड़ने पर चूंकि उनसे न्यारे अपने आत्माको समझा है इस कारण वहाँ भी इसका बिगाड़ नहीं होता, भय नहीं हुआ करता है, तो भय होनेका कारण है परपदार्थमें आत्माकी अनुभूति करना। सो यह उन पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि जीवोंकी वृत्ति चल ही रही है इसी कारण उन्हें भय है। इसीसे शंका है और इसी कारण उनको भय उत्पन्न होता है।

ततो भीत्यानुमेयोरित मिथ्याभावो जिनागमात्।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षते ॥४९६॥

सप्त भयोंकी मिथ्याभावानुमेयता व स्वानुभवक्षतिहेतुता—मिथ्यादृष्टि जीवोंको जो यह अन्तः भय लगा हुआ है उस भयसे ही यह प्रमाणित होता है कि उनके मिथ्याभाव है, इस कथनसे यह भी निर्णय रखना चाहिए कि जब कभी इसके भय उत्पन्न होता हो तो समझना चाहिए कि कोई मिथ्याभाव लग बैठे हैं जिनसे कि भय उत्पन्न होता। मिथ्याभाव न लगा हो तो भय किस बातका? जिसे किसी भी बातका भय लगा हो तो समझना चाहिए कि मिथ्याभावोंका यहाँ संसर्ग है। इस कारण भय बन गया है अन्यथा भय किस बातका? तो उस भयसे मिथ्याभावका अनुमान किया जाता है और वह भय आत्मानुभूतिके विनाशका कारण है अर्थात् ऐसा अन्तः भय जहाँ मौजूद हो वहाँ आत्मानुभुति किस तरह हो सकती है? आत्मानुभुति की वहाँ गंध भी न होगी। ऐसा जिनेन्दभगवानके आगमसे स्पष्ट प्रसिद्ध हो गया है। यह सुनिर्णीत है कि जहाँ भय है वहाँ आत्मानुभव नहीं। तो इस प्रसंगमें यह बताया गया है कि इन तत्त्वोंके बारेमें जो भ्रम बन गया है वह भ्रम बन गया है अपनी शंकाके कारण। अपनी शंका होती है भयके कारण और भय होता है परपदार्थोंमें 'यह मैं हूं' इस प्रकारके अनुभवके कारण। जब जिसको ऐसा भय हो, शंकायें हों उनको स्वानुभव कहाँसे हो सकता है और जिनके स्वानुभव है उनके भय नहीं होता, वे तो केवल एक अपने आत्मतत्त्वमें रमते हैं, इसीमें ही सन्तुष्ट होते हैं, इसही में मग्न रहते हैं। इसके अतिरिक्त जिसका कोई दूसरा लक्ष्य नहीं, केवल एक स्वकी प्रतीतिमें उपयोग रहता है उनको अब भय किस बातका? कदाचित् कोई प्राण भी लेवे तो ऐसी दृढ़ता वाले ज्ञानीके उसका भी भय नहीं रहता। क्या बिगाड़ हुआ? किसीने कह दिया कि आप इस कमरेमें न बैठें, उस कमरेमें चले जाइये, तो ठीक है, आप समतासे, शान्तिसे चले जाइये। उसमें हुज्जत करनेकी क्या बात पड़ी है? वहां कोई कहनेकी बात है क्या? तो लो यदि प्रकृतिने यह हुक्म दिया है, प्रकृतिक्षयने प्रकृति के उदयने यह हुक्म दिया है कि अब इस कमरेमें मत बैठो, इस देहमें न रहो, आगे चलो तो समतासे मान लो उसकी बात, उसमें हुज्जत करनेकी क्या बात है? ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषोंको अपने आपके चित्स्वरूपमें प्रतीति बनी हुई है, उस ही में अहंरूपसे अनुभव हो रहा है तब

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उन बाहरी किन्हीं भी बातोंका भय नहीं रहता ।

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः ।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात् ॥४६७॥

पराधीन व सप्तभय सहित जीवके स्वानुभवकी असंभवता तथा स्वस्थ व स्वाधिकारी जीवके सप्तभयोंकी असंभवता—उक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जो पराधीन है वह भयसहित है और वह स्वानुभवसे च्युत है, अथवा यह कह लीजिए कि जो भयसहित है वह पराधीन होता है और वह स्वानुभूतिसे रहित हो जाता है अथवा उसे स्वानुभूति नहीं होती है। वह आत्मानुभूतिसे गिरा हुआ है, लेकिन जो स्वच्छ पुरुष है वह अपन अधिकारी है। स्वपर उसका अधिकार हुआ है और वह अधिकार हुआ है दृष्टिबलसे। दृष्टिसे स्व आत्मा हस्तगत हुआ है, उपयोगगत हुआ है, इस कारण उसके भीतिका होना असम्भव है। सम्यग्दृष्टि जीव के भय नहीं होता। मिथ्यात्वमें ही भयका शिकार होना पड़ता है। यहाँ जो सम्यग्दृष्टिको निर्भय बताया गया है ऐसी निर्भयता प्रत्येक सम्यग्दृष्टिके होती है। चाहे वह अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानमें हो अथवा और उच्च चारित्रगुणोंमें हो, किसी भी सम्यग्दृष्टिके भय नहीं होता। यहां कोई ऐसी आशंका कर सकता है कि सम्यग्दृष्टिको यदि निर्भय बताया गया है तो यहाँ लोकमें वह शेरसे बचकर चलता है। सर्प, बिच्छू आदिसे बचकर चलता है, तो क्या यह भय नहीं कहलाता? इसका उत्तर स्वयं आगेके श्लोकोंमें दिया जायगा। फिर भी संकेत में यह समझना चाहिए कि आत्मस्वरूपमें इस सम्यग्दृष्टिको रंच भी शंका नहीं है। दर्शनमोहकृत जो भय शंकायें हैं वे सम्यग्दृष्टिमें रंच भी नहीं होतीं। रहे कुछ थोड़ेसे ऊपरी भय तो उस भय परिणामसे भी जिसको भय नहीं है तो ऊपरी ऊपरी भयका यह भय कैसे कहा जायगा? सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय होता है और इस निर्भयताके कारण वह स्वाधिकारी है, स्वानुभवका पात्र होता है।

ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात् ॥४६८॥

चारों संज्ञाओंके सद्भाव वाले सम्यग्दृष्टिके भयके अभावकी शङ्कास्पदता—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि किन्हीं-किन्हीं सम्यग्दृष्टियोंके चार संज्ञायें भी बतायी गई हैं। संज्ञायें चार होती हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। आहारसंज्ञा मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तविरत गुणस्थान तक होती है। भयसंज्ञा मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक है, मैथुनसंज्ञा पहिले गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक है और परिग्रहसंज्ञा १० वें गुणस्थान तक है। शंकाकार कहता है कि देखो इतने अच्छे अच्छे सम्यग्दृष्टियों तकके भी संज्ञायें बतायी गई हैं। श्रेणीमें रहने वाले मुनियोंके भय, मैथुन,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परिग्रह संज्ञा कही गई है। साधुवोंके भी प्रमत्तविरत गुणस्थानमें आहारसंज्ञा आदि चारों संज्ञायें कही गई हैं। तो जहाँ तक संज्ञा होती है वहाँ तक तो संज्ञाओंकी बात होनी चाहिए। वे संज्ञाओंके सम्बन्धित गुणस्थान तक तो संज्ञायें हैं ही। तो भयसंज्ञा ८ वें गुणस्थान तक है, फिर क्यों मना किया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके कोई भय ही नहीं होता ? इस तरह का कथन क्यों किया जा रहा है ? शंकाकारका यह भाव है कि लोकमें भी दिख रहा है कि सम्यग्दृष्टि डरता है। कोई-कोई किन्हीं-किन्हीं घटनाओंमें और आगमोंमें भी यह बतला रहे हैं कि भयसंज्ञा ८वें गुणस्थान तक है, फिर यहाँ बड़ी दृढ़तासे क्यों कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके रंच भी भय नहीं रहता। तो इस कथनसे मेल कैसे किया जा सकेगा ? अब इस शंकाका समाधान करते हैं।

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥४६६॥

अनिष्ट पदार्थके संयोगसे बचनेका प्रयत्न करने वाले सम्यग्दृष्टिके निर्भयत्वमें पुनः शंका— यहाँ शंकाकार फिर भी कह रहा है कि जब सम्यग्दृष्टिके चार संज्ञायें पायी जा रही हैं तो फिर उस सम्यग्दृष्टिको यहाँ निर्भय किस प्रकार कहा जा रहा है ? देखो जब यहाँ किसी सम्यग्दृष्टिको अनिष्ट पदार्थोंका संयोग मिलता है तो उससे बचनेके लिए प्रयत्न भी करता है, इस बातको तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं। अच्छा बताओ यहाँ किसी व्यक्तिके पास ले जाकर कि यह है सम्यग्दृष्टि, कोई गृहस्थ अथवा मुनि किसीको बताये कि यह है सम्यग्दृष्टि। उसके पास जब बिच्छू, सर्प आदिक निकलेंगे तो वह बचेगा कि नहीं ? देख लीजिए। भले ही कोई उत्कृष्ट साधु ध्यानमुद्रामें बैठे हैं और नहीं भी बचते हैं, ऐसे एक दो लोग हों, फिर भी वे जब चल फिर रहे हैं तो उनसे आसानीसे बचा करते हैं, और गृहस्थ तो उनसे बहुत ही अधिक बचकर चला ही करते हैं। तो यह कैसे कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके भय नहीं रहता। देखते हैं कि वह भयवान है और अनिष्ट पदार्थोंसे बचकर चलता है। कौन शेरके मुखमें हाथ देगा, शेरके पास कौन जाकर बैठेगा ? वह तो मानो आपत्ति आनेपर बचनेकी कोशिश करेगा, लेकिन कोई इन अनिष्ट वस्तुवोंके समीप चलकर जाता भी तो नहीं है। क्यों नहीं जाता ? जैसे कोई किसी भी साधुके पास बैठ जाता है अथवा गृहस्थके घर आहारार्थ जाता है, ऐसे ही वे सिंहादिकके पास क्यों नहीं चलकर जाते हैं ? तो इससे सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टिके भय है, फिर यहाँ क्यों कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टिके भय नहीं होता ? इस शंकाके उत्तरमें अब कह रहे हैं।

सत्य भीकोपि निर्भीकस्तत्स्वामित्त्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥५००॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भीरु होनेपर भी संज्ञाओंके स्वामित्वका अभाव होने से सम्यग्दृष्टिका निर्भीकत्व—उक्त शंकाके समाधानमें कह रहे हैं कि शंकाकारकी उपर्युक्त बात ठीक है कि सम्यग्दृष्टिके चार संज्ञायें हैं और वह सम्यग्दृष्टि भयभीत भी होता है, परन्तु यह भी तो देख लीजिए कि जिन संज्ञाओंके कारण भयभीत होता है, हो जाता है भयभीत। उन संज्ञाओंमें यह सम्यग्दृष्टि अपना कुछ मानता नहीं, याने यह ज्ञानी पुरुष उन संज्ञाओंका अपनेको स्वामी नहीं समझता है। जिन संज्ञाओंके आधारपर भय हो रहा, जब उनसे लगार नहीं रख रहा है, उनसे विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति बनाये हुए है तो इस पद्धतिमें कैसे कहा जा सकता है कि सम्यग्दृष्टिको भय रहता है ? जो भय है वह चारित्रमोहके विपाककृत है। सो चारित्र-मोहके विपाक होते हैं, पर उन्हें ज्ञानी जीव अपनाता नहीं है, अर्थात् यह मैं हूं, यह मेरा स्वरूप है, इस प्रकारका भ्रम ज्ञानीके कभी नहीं होता है। तो जहाँ चारों संज्ञाओंका अपनेको स्वामी न समझा तब उस कर्मजन्य उपाधिको न अपनानेके कारण कहा जा सकता है कि यह ज्ञानी पुरुष भयशील है। जैसे चक्षु परद्रव्यको रूपीद्रव्यको देख रहे हों तो भी वे चक्षु देखते नहीं हैं, उसको अनुभवते नहीं हैं। इसी तरहसे आहार, भय आदिक संज्ञायें हो रही हैं, भय भी हो रहा है, लेकिन होते हुए भी वह यहाँ नहीं हो रहा है, उसको ज्ञानी अनुभवते नहीं हैं अर्थात् सम्यक्त्वमें इस सम्यग्दृष्टिके इस आत्मप्रतीतिमें रंच भी भय नहीं है, इस कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष निर्भय होता है और निर्भय होनेसे निःशंक है, निर्भय है। अतएव वह स्वानुभवका अधिकारी है।

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागतः।
मुह्यन् रज्यन् द्विषँस्तत्र तत्फलेनोयुज्यते ॥५०१॥

उदयागत कर्मांशोंमें मोह, राग, द्वेष होनेपर ही जीवोंका कर्मफल उपयोजन—शंका-कारने यह शंका की थी कि जब सम्यग्दृष्टि पुरुषके भी चार संज्ञायें रह सकती हैं तो उन संज्ञाओंके रहते हुए और अनिष्ट पदार्थोंका समागम मिले तो उससे बचनेका प्रयत्न करते हुये सम्यग्दृष्टि जीवके भयका अभाव किस तरह कहा गया है ? उसके समाधानमें बताया गया कि यद्यपि यह सम्यग्दृष्टि भयसंज्ञावाला भी रहता है कुछ पदों तक और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होने पर उनसे बचाव भी करता है, इस तरह यह भयवान नजर आ रहा है, फिर भी संज्ञाओंमें स्वामित्व न होनेके कारण अथवा जो कुछ वृत्ति बन बैठी है उसका स्वामित्व न होनेके कारण वह निर्भीक कहा जाता है और उस समय उसकी ऐसी स्थिति होती है कि जैसे आँख पदार्थसे देखकर भी आँखोंको पदार्थोंकी अनुभूति नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भयको करता हुआ भी भयको अनुभवता नहीं है अर्थात् स्वरूपसे उसका अनुभव नहीं करता। फिर ये सारी बातें हो कैसे रही हैं ? जीवोंमें रागद्वेष, सुख दुःख आदिक पाये जा रहे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं। वे होते क्यों हैं ? उसका कारण इस श्लोकमें कहा गया है। संसारी जीवोंके कर्मांश उदयागत हो रहे हैं। उसके फलमें यह जीव मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है। यहाँ जीवोंकी जो वृत्तियाँ विषम देखी जा रही हैं उसका निमित्त कारण कोई अन्य ही होगा। यदि खुद ही निमित्त कारण हो और खुद ही उपादान हो तो ये विषमतायें न रहनी चाहिएँ अथवा रह जायें विषमता, राग द्वेषादिक तो सदा रहना चाहिए। उनका अभाव होनेका फिर अवसर न रहेगा। उससे यह सिद्ध है कि जीवोंको जो सुख दुःख रागद्वेषादिक होते हैं वे उदयगत कार्माणवर्गणाओंका निमित्त पाकर होते हैं। तो इस तरह ज्ञानी जीवमें भी जब तक कर्मोदय है तो जितने अनुभागका कर्मोदय है उस रूप वहाँ परिणाम होता है, लेकिन किसी भी पर्यायमें स्वामित्वकी बुद्धि ज्ञानीके कतई नहीं रही है, इस कारणसे उसे निर्भीक कहा गया है।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात्।
देशतोप्यत्र मूर्च्छायाः शङ्काहेतोरसंभवात् ॥५०२॥

शङ्काहेतुभूत मूर्च्छाकी ज्ञानीमें असंभवता होनेसे निःशङ्कताकी सिद्धि—चूंकि कर्मोदय और कर्मफलका ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जब उदय होता है तब उदयानुकूल वहाँ वृत्ति होती है। भले ही उदयके समयसे पहिले उस प्रकृतिका संक्रमण हो जाय तो यह सम्भव है, पर उदयक्षणको प्राप्त हो जाय कोई प्रकृति तो वहाँ उदयके अनुरूप फल होता है। तो हो वह फल, किन्तु ज्ञानी जीवके किसी भी कर्म और कर्मफलमें स्वामित्व नहीं है, इस कारणसे यह जीव निःशंक रहता है। निःशंकता न रहनेके कारण क्या हैं ? और सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक बना हुआ है उसका कारण क्या है, इसका स्पष्टीकरण आगे स्वयं किया जायगा। किन्तु यहाँ इतनी बात संकेतमें समझना है कि शंकाका कारण है मूर्छा, परपदार्थमें ममता। तो सम्यग्दृष्टिको परपदार्थमें तो ममता क्या हो, उसको अपने आपमें उत्पन्न हुए रागादिक सुख दुःखादिक विभावोंमें भी ममता नहीं है। तो यों मूर्छाका अभाव होने से ज्ञानी जीव निःशंक रहता है। इसके मूर्छा रंचमात्र भी नहीं है। जहां यह वर्णन आता है कि परमाणुमात्र भी राग सम्यग्दृष्टिके नहीं है, तो परमाणुमात्र भी राग हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। वैसे उसका अर्थ मूर्छा ही है अर्थात् मूर्छारूपी बेहोशीके रूपसे रंचमात्र भी राग नहीं है याने किसी भी रागांशके प्रति ममता हो, मूर्छा हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। उसका स्पष्ट निर्णय है कि मेरा स्वरूप तो केवल ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकारका विकार विषमता ये मेरे स्वरूपमें नहीं हैं। तो यों मूर्छा, शंकाका कारण है। उसका हो गया अभाव, इस कारण ज्ञानी पुरुष सदा निःशंक रहता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥५०३॥

सम्यग्ज्ञानीके स्वात्मसंचेतनके कारण कर्मको करते हुए भी कर्ममें लीनताकी असंभवता—अब यहाँ इस बातका विचार किया जायगा कि उस सम्यग्दृष्टि जीवके स्वात्मा का चेतन किस तरह होता है ? अर्थात् इस ज्ञानीका स्वात्मसंचेतन किस विधिका है, जिसके कारण यह ज्ञानी कर्मोंको करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है । स्वात्मसंचेतन की बात ध्यानकी बात सम्यग्दृष्टियोंमें जघन्य पदोंमें होती है । उत्कृष्ट पद मिल जाय सम्यग्दृष्टि को तो वहाँ चिन्तनकी बात ही नहीं रहती है । केवल एक शुद्ध ज्ञानपरिणमन रहता है । अपने आपके सम्बन्धमें चिन्तन करना, ध्यान करना, यह बात कुछ लघु पदोंमें सम्भव है सम्यग्दृष्टि जीवके । तो वहाँ कर्मोंको यह कर ही रहा है । शारीरिक वृत्तियाँ, शारीरिक बोल-चाल आदि सभी बातें चल रही हैं । तो इतने मन, वचन कायके कर्मोंको करते हुए भी ज्ञानी जीव कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है, यह किस भावका परिणाम है ? उनका स्वरूप संचेतन किस तरह होता है, इस बातपर कुछ विचार करें । तो इस सम्बन्धमें विचार करने से पहिले ऐसे स्वरूप संचेतनके उत्पादक जो ७ भय हैं उन भयोंका नाम निर्देश करेंगे और उन भयोंके वर्णनके साथ ही साथ यह भी बतायेंगे कि इस प्रसंगमें ज्ञानी जीवका संचेतन किस तरह होता है जिससे कि वह कर्मको करता हुआ भी कर्मसे लिप्त नहीं होता ।

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥५०४॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥५०५॥

अज्ञानियोंके संभव सप्त भयोंका निर्देश—जिन ७ भयोंके कारण जीव स्वरूपसे चलित हो जाता है, नाना शंका, विडम्बनाओंमें पड़ जाता है, आकुलित रहता है, संसार-बर्द्धक कर्मप्रकृतियोंका बन्धन करता है उन ७ प्रकृतियोंके ये नाम बताये गए हैं । पहिला भय है इहलोकभय । इस लोकमें मेरा कैसे गुजारा हो ? आपत्ति न आये, इस तरहके भयकी प्रकृति बनाये रखना इहलोकभय है । दूसरा भय है परलोकभय । परलोकमें मेरी क्या हालत होगी ? सुखी रहेंगे, न रहेंगे, क्या मिलेगा, किस तरह होगा, इस तरहका भय करना परलोकभय है । कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीवके भी परलोकका चिन्तन चलता है कि मेरा भविष्य अब आनन्दमें रहे, शुद्ध धर्मरूप रहे । यद्यपि इतना भी बाधक भाव है, पर हो जाता है । किन्तु मिथ्यादृष्टिके परलोक चिन्तनकी दिशा ही विपरीत है । जैसे इस लोकमें सुख साम्राज्य चाह रहा है इस तरहका सुख साम्राज्य परलोकमें भी मिले ! कहीं इसमें बाधा न आ जाय,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इस तरहका वह भय बनाये रहता है। साथ ही परलोकमें मेरेको क्या होगा, इस तरहका भी भय हुआ करता है। यह भय उन्हें होता है जिन्होंने आत्मस्वरूपका दर्शन नहीं किया। तो दूसरा भय है परलोकभय। तीसरा भय है वेदनाभय। कोई शारीरिक व्याधि वेदना उत्पन्न होने पर अब क्या हाल होगा? इसकी वेदना कहीं बढ़ न जाय, कहीं ऐसा न हो कि यह फोड़ा असह्यवेदना उत्पन्न करदे, इस तरहका भय बनाना सो वेदनाभय है। चौथा है अरक्षाभय। मेरा कोई शरण नहीं है, मेरा कोई रक्षक नहीं है, मैं कैसे ठीक रहूं, कोई साधन ही नहीं है, इस प्रकारसे अपनेको अरक्षित निरखकर भय बनाये रहना सो अरक्षाभय है। इन सब भयोंका आगे वर्णन आयगा और उसी प्रसंगमें सम्यग्दृष्टिका विलास भी बताया जाता रहेगा कि इसे ये भय क्यों नहीं हैं और निर्भय होकर वह कैसे स्वरूपसंचेतन करता है? ५वाँ भय है अगुप्तिभय। मेरे लिए कोई गुप्तस्थान नहीं है, न कोई मजबूत क़िला है, न कोई मजबूत घर है, न कोई मित्रपार्टीका कोई सुन्दर किला है कि जिससे दूसरोंके विविध आक्रमण मुझपर न हो सकें, आदिक अनेक प्रकारसे अपनेको अगुप्त समझना सो अगुप्तिभय है। छठा भय है— मरणभय। इस मरणभयसे तो सभी जीव भली भाँति परिचित हैं। किसी भी समय कोई मरणकी आशंका जैसी घटना हो जाय तो उस समय वह कैसा भय करता है, इसको वही समझ सकता है। जब कभी साम्प्रदायिक कठिन दंगे हो जाते थे उस समय सड़कों पर निकलते समय लोगोंको यह शंका बनी रहा करती थी कि कहीं ऐसा न हो कि कोई हत्यारा मेरे पेटमें छुरा भोंक दे और मेरा मरण हो जाय। तो ऐसी शंका इस जीव में निरन्तर बसी रहती है। तो यह मरणभय भी एक स्वात्मानुभूतिका कारण बन रहा है। ७ वाँ भय है आकस्मिकभय। इसका वर्णन किया जाय तो एक फिजूलसा भय जंचेगा। लेकिन गुजर है यहतो रही भीति सभी मिथ्या आशय वाले जीवोंमें। कहीं यह छत न गिर जाय, कहीं बिजली न गिर जाय आदिक अनेक प्रकारके आकस्मिक भय हैं। परिवारमें रहते हैं। कहीं कोई गुजर न जाय और बात तो जाने दो, जिसके प्रति राग होता है उसे जरा भी कष्ट आये तो उसके प्रति झट शंका बैठ जाती कि कहीं इसका मरण न हो जाय। यदि यह मर गया तो फिर मेरा क्या हाल होगा आदिक रूपसे आकस्मिक भय भी होता है। ये ७ प्रकारके भय कुदृष्टियोंके ही होते हैं, जिनके पर्यायमें आत्मबुद्धि लगी हुई है।

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ॥५०६॥

इहलोकभयमें इष्टार्थव्यय व अनिष्टार्थसंगम न होनेकी वासनामें आर्तध्यान—अब इन ७ भयोंमें से सभी भयोंका क्रमशः वर्णन किया जायगा। इस श्लोकमें इहलोकभयका स्वरूप बताया गया है। इस जन्ममें लोगोंको लोकसे भय बना। अर्थात् मेरे इष्ट पदार्थका कहीं

http://sahjanandvarnishastra.org/

विलगाव (बिछोह) न हो जाय । कहीं अनिष्ट पदार्थोंका मुझसे संगम न हो जाय ? इस तरह से इन बाह्य पदार्थोंकी ओरसे इनके संयोग वियोगके लिए विलाप करना, क्रन्दन करना, झींकना सो इहलोकभय कहलाता है । इहलोक भयमें जितने भी भय होते हैं वे सब भय दो विभागोंमें शामिल हैं । इष्टवियोग न हो जाय और अनिष्टसंयोग न हो जाय । जिन जिन चीजोंको अनिष्ट मान रखा है उनके संयोगका डर बना रहता है । कहीं कोई अब ऐसा कानून न बन जाय कि कोई पुरुष इतनेसे अधिक धन नहीं रख सकता है अथवा कोई लूटमारका उपद्रव न आ जाय, दूसरी किन्हीं उद्दण्ड पार्टियोंका अभ्युदय न हो जाय कि रहा सहा धन भी लुट जाय, या जो चिन्तन कर रखा है कि इतना धन तो मेरे पास रहना ही चाहिए, उसमें कहीं बाधा न आ जाय आदिक अनेक प्रकारके चिन्तन चलते हैं, उसमें भय बना रहता है तो यह सब इहलोकभय है और क्या मुद्रायें हुआ करती हैं सो भी बताते हैं ।

स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्माभूद्दरिद्रता ।
इत्याद्यधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥५०७॥

इहलोकभयमें धनके ठहरने व न ठहरनेकी शंकासे तथा दरिद्रता न हो जाय, ऐसी वासनाके शल्यसे विह्वलता—जिनको आनन्दमय ज्ञानस्वरूप इस कल्याणमय तत्त्वका दर्शन हुआ है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंके मानसिक चिन्ता निरन्तर चला करती है । क्या क्या चिन्तायें मानसिक हुआ करती हैं ? जैसे यह धन परलोकमें तो जायगा नहीं । इस बातको तो सभी लोग जानते हैं, ज्ञानी जन भी और अज्ञानी जन भी । यों इस धनकी अस्थिरताका परिचय तो सभीको है, पर इस परिचयसे ज्ञानी जन तो लाभ उठा लेते हैं, पर अज्ञानी जन उससे लाभ नही उठा पाते, बल्कि वे उसके पीछे विकल रहा करते हैं । यह धन मेरे पास ठहरेगा अथवा नहीं, कहीं दैवसे मेरी दरिद्रता न बन जाय । जानता तो वह अज्ञानी भी होगा कि जगतमें पापके उदयसे दरिद्रता आया करती है लेकिन उस पापसे वह छूटना तो नहीं चाहता । एक पाप तो यही कर रहा है कि वह यह सोच रहा है कि मेरे दरिद्रता न आ जाय । यह पापभाव है । तो दरिद्रतासे तो डर रहा है, मगर पापभावसे नहीं डर रहा है । कहीं मेरा यह धन ठहरेगा या नहीं, कहीं मेरे दरिद्रता न आ जाय, आदिक रूपसे मानसिक चिन्तायें इस कुदृष्टिके हृदयको जलाये जा रही हैं । इस तरह लोकभयका वर्णन करके अब एक श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि कुदृष्टिके चिन्तनमें और तत्त्वज्ञानके चिन्तनमें, उनकी वृत्तियोंमें कितना अन्तर है ?

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥५०८॥

अज्ञानियोंके भयका सद्भाव व ज्ञानियोंके भयका अभाव होनेसे ज्ञानी और अज्ञानीमें विशेषान्तरका कथन—अज्ञानी जीवके तो निरन्तर भय बना रहता है और ज्ञानी जीवके कहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी भय नहीं रहता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी और अज्ञानी जीवमें महान अन्तर है। अभी जो अज्ञानी जीवके लिए भयके सम्बंधमें दो बातोंपर ध्यान दिलाया गया है कि भय इन दो चिन्ताओंके कारण है—कहीं इष्टवियोग न हो जाय और अनिष्टसंयोग न हो जाय? तो इन ध्यानोंमें अज्ञानीको निरन्तर भय बना रहता है, पर ज्ञानीका क्या विचार होता है कि जगतमें मेरा यह आत्मा एक प्रियतम है, यही मेरे लिए परमशरण है। इस आत्माके आधारमें सर्व कल्याण है। मैं केवल ज्ञानस्वरूप अपने आपको निहारता हूं। इस ही ज्ञानमें गुप्त हो जाऊँगा तो फिर मेरे लिए कुछ बाधा ही क्या है? जगतमें संकट क्या है? यह तो अतुल आनन्दमें मग्न रहता है और मैं सारे विश्वसे निराला हूं। मेरेको इष्ट क्या और अनिष्ट क्या? इष्ट मानना यह ही मेरे लिए अनिष्ट है। अनिष्ट समझना यह ही मेरे लिए अनिष्ट है। यह इष्ट अनिष्टका विकल्प होना ही मेरे लिए कलंक है। मैं सर्वसे निराला केवल पवित्र ज्ञानस्वरूप हूं। इस ओर जिसकी दृष्टि है उस पुरुषको बाह्य परिणतिके कारण क्या भय हो सकता है? ऐसे ही चिन्तनाके अंतरसे ज्ञानी जीव और अज्ञानी जीवमें महान् अंतर आ गया है और इस अंतर के कारण विदित होगा कि सम्यग्दृष्टि जीवको जो निःशंक कहा गया है वह यथार्थ ही कहा गया है। उसे क्या संकट? जिसको ज्ञानस्वरूप आनन्दधाम अपना आत्मतत्त्व अपने समक्ष है, इसके अतिरिक्त किसी भी पदार्थको महत्त्व नहीं देता है. सभी पदार्थ मेरेसे भिन्न होनेके कारण मेरे लिए तुच्छ हैं। जब किसीको महत्त्व नहीं दिया है इसने अपने चिन्तनमें तो इसके लिए न कुछ इष्ट है, न कुछ अनिष्ट है और धन्य है ऐसे परिणामको जहाँ बाह्यपदार्थोंमें इष्टबुद्धि और अनिष्टबुद्धि नहीं रहती और इस ही कारण अपने आपके स्वरूपकी ओर हो आकर्षण रहता है।

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत्।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहाद‌द्वैतवादवत् ॥५०६॥

अज्ञानीकी सर्व अर्थोंको कर्मनोकर्मभावकर्मात्मक माननेकी मान्यता—अज्ञानी जीव अपने आपको जो कर्म, नोकर्म और भावकर्मात्मक मानता है वह सब मोहसे मान रहा है और यों मान रहा है जैसे कि अद्वैतवादमें सर्व कुछ एक स्वरूप माना गया है, अज्ञानीको यह विश्लेषण नहीं रहता कि यह शरीर है सो मैं हूं, किन्तु शरीर और मैं ऐसे दो पदार्थ ही नहीं मान पा रहा है। वह तो शरीरमें ही अहंरूपसे अनुभव करता है। जैसे कि किसी वस्तुको निरख कर चौकीको देखा तो कोई ऐसा नहीं कहता है कि ऐसे चौकोर आकार वाले पदार्थमें यह चौकी है किन्तु इस ही पदार्थको चौकी है इस रूपसे लोग कहते हैं। तो इसने आकारमें और चौकीमें अभेद कर डाला, इसी तरह अज्ञानी जीव शरीरमें 'मैं हूं' ऐसा नहीं सोचता, किन्तु 'यही मैं हूं' शरीरको ही अहंरूप कर डाला है। इस प्रकार उसके कारणभूत जो द्रव्य कर्म हैं और द्रव्यकर्मके निमित्त कार्यभूत जो भावकर्म हैं, उनमें भी यह अहंरूपसे अनुभव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करता है। नोकर्म और भावकर्ममें तो अहंरूपसे माना ही है। जैसे जो क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें जगती हैं यह कुदृष्टि अपनेको तद्रूप अनुभव करता है और शरीररूप अपने को अनुभवता है तो द्रव्यकर्मरूप भी अपने को अनुभव डाला। तकदीर वह कुछ अलग चीज नहीं समझ पाता। इस तरह यह अज्ञानी जीव यह कर्मनोकर्मरूप अपनेको मान डालता है। अद्वैतवादमें भी यही कल्पना तो बनती है कि सारा विश्व एक ब्रह्मरूप है। तो जैसे सारे विश्वको एक ब्रह्मरूप माननेकी बात बनती है अज्ञानमें, इसी प्रकार शरीरको अहंरूप मानने की बात अज्ञानमें बनती है। तो जब यह जीव अपनेको शरीरमात्र समझ पा रहा है तो शरीरका वियोग होता है, शरीर दुर्बल होता है। शरीरके साधन भी चाहिएँ तब उन साधनोंसे अपना यह जीवन मानता है। इन सब बातोंके कारण उसे इहलोकसे भय उत्पन्न हो गया है, अर्थात् इस लोकमें मेरे दरिद्रता न आ जाय, कोई अनिष्ट चीजका संगम न हो जाय, ऐसी चिन्ता चित्तमें है।

विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥५१०॥

विश्वसे भिन्न होकर भी इस जीवका मोहवश विश्वको स्व रूपकी मान्यताके कारण भयशीलता—अपने आपके स्वरूपका विनाश करने वाला, अपने स्वरूपसे च्युत होने वाला यह अज्ञानी जीव यद्यपि इस सारे संसारसे निराला है, कोई मोही हो तो उसका मोहपरिणाम भीतर ही तो बन रहा है, वह विकार ही तो बन रहा है। कहीं उसके सोचनेसे कुछ न हो जायगा। तो सर्वसे भिन्न है यह मोही जीव, फिर भी इस सारे जगतको अपना ही मानता है। अज्ञान ही एक कष्टकी चीज है। अज्ञानके समान विपदा इस जीवपर अन्य कुछ नहीं है। जिसे विपत्तियोंसे दूर होना है अपना कल्याण पानेकी जिसे अभिलाषा हुई है उसका कर्तव्य है कि पहिले वह मिथ्याज्ञानका, विपरीत ज्ञानका उच्छेद करे। यह कितनी बड़ी विपत्ति है कि हैं ये सब परवस्तुयें, मेरा यहाँ कहीं कुछ है नहीं, मेरे सोचनेसे उनमें कुछ होता नहीं, लेकिन ये उल्टा सोच-सोच करके दुःखी होते हैं और ऐसा दुर्लभ जन्म जो इस संसारमें बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है ऐसे नर-जन्मको पाकर भी ये अमूल्य क्षण गंवा दिये जाते हैं व्यर्थके विकल्पोंमें, परवस्तुओंकी चिन्ताओंमें। इनमें ही यह अपना अमूल्य जीवन गंवा दिया जाता है। इस तरह यह अज्ञानी जीव जब अन्य पदार्थोंसे अपना लगाव बनाये है तो उसको भय होगा ही, और वासनामें उसके लगाव निरन्तर बना रहता है, इस कारणसे वह किसी भी समय भयको नहीं छोड़ सकता। कभी उपयोगमें उसके वैषयिक मौज भी चल रहे हों, वह खुश हो रहा है, लेकिन उसका भय अभी मिटा नहीं है तब ही तो जरा-जरासी देरमें वह एकदम भयभीत और दुःखी हो जाता है। तो अज्ञानी जीव सारे विश्वको आत्मारूप मान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रहा है, इस कारण वह लोकमें कभी भी भयका त्याग नहीं कर सकता। उसके निरन्तर भय बना रहता है। जो ज्ञानी जीव है उसको किसी भी प्रकारका भय नहीं है, क्योंकि उसने जाना कि मैं तो इतना ही हूं, जो होना होगा वह इस ही मुझमें होगा, मेरे इस ही स्वरूप द्वारा होगा। मेरा कुछ भी बिगाड़ किसी अन्य पदार्थसे हो ही नहीं सकता। बाह्य पदार्थ निमित्त भी हो मेरे बिगाड़का तो वहाँ भी मैं मिथ्यारूपसे परिणमता हूं तभी दुःखी होता हूं। कहीं किसी बाह्य पदार्थकी परिणतिके कारण दुःखी नहीं होता। और जो दुःख होता है उस दुःख पर्यायसे ही इसका लगाव नहीं है अर्थात् उन पर्यायोंरूप अपनेको माना ही नहीं है। इस कारण ज्ञानीको कभी भी भय नहीं है और अज्ञानीको सदा भय है। बड़े मोटे किलेके बीचमें रह रहा हो, चारों तरफ अपनी सेनायें भी लगा रखी हों, बड़े अच्छे आरामके महलमें रहता हो, फिर भी अज्ञानी जीवकी वासनामें भय निरन्तर पड़ा हुआ है। इस कारण यह जीव शंकित है और आत्मस्वरूपका स्वानुभव भी प्राप्त नहीं करता है।

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मण: पाकसंभवात्।
नित्यबुद्धया शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥५११॥

मिथ्यात्वके उदयसे शरीरादि अनित्य पदार्थमें नित्यताकी बुद्धि होनेसे भ्रान्त हुए मिथ्यादृष्टिके निरन्तर भयकी परिस्थिति—उक्त कथनका सारांश यह है कि अज्ञानी पुरुषके ऐसा ही कर्मोदय रहता है कि जिसके कारण वह अनित्य पदार्थोंमें नित्यकी बुद्धि बनाये रहता है। बस इस ही भ्रान्तिसे यह जीव निरन्तर भयवान रहता है, यही अंदाज कर सकता है। यदि जीवनमें ऐसा मानकर रहे, घरमें रहे, कहीं रहे, ऐसा मान ले कि जो मुझे मिला है ये सब वस्तुवें मिट जाने वाली हैं। ये समागम कुछ भी मेरे साथ सदा रहनेके नहीं हैं। सबको छोड़कर मुझे जाना ही पड़ता है। सो यदि विश्वास बनाये रखे इस समागममें भी तो जब कभी इन पदार्थोंका, परिवार जनोंका या धनसम्पदाका उपयोग हो, विनाश हो तो उस समय में यह दुःखी न रहेगा, किन्तु जिसने जीवनमें यही-यही अपना अभ्यास बनाया, ऐसा ही जिसने विश्वास किया कि यह मेरा घर है, यह मेरेको छोड़कर कहाँ भाग जायगा? यह तो मेरा ही है, इसे दूसरा कौन लेगा? ये परिवारमें जो लोग मिले हैं शत्रु मित्र आदिक ये तो मेरे ही हैं, मेरेसे अलग नहीं हैं, अलग कहाँ होंगे, कहाँ जायेंगे? अरे मिटते हैं तो दूसरोंके मिटते हैं, मेरे नहीं मिट सकते हैं, ऐसा विपरीत विश्वास बना रखा हो तो उस जीवके निरन्तर भय बना रहेगा, और उस जीवको महान दुःख होगा वियोगके समयमें, क्योंकि वियोग तो होगा ही। अब सोचेंगे कि एकदम मेरा था, कितना कितना सुखकारी था, बस सोच-सोचकर दुःखी होता है। तो जो अनित्य पदार्थोंको पहिलेसे अनित्य मानकर रह रहे कि ये तो सब मिटने वाले हैं तो उसको उन पदार्थोंके वियोगमें दुःख नहीं हो सकता। दुःखी तो इसलिए होते हैं कि जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनित्यमें नित्यकी बुद्धि बनाये हैं। तो सर्व तरहसे अनित्य पदार्थोंमें नित्यबुद्धि करनेसे यह जीव शरीर आदिकमें भ्रान्त हो गया है और इस तरह भी देख रहा है यह अज्ञानी कि देखो— यह शरीर ४०-५० वर्षका है और ज्योंका त्यों है। यह तो सदा रहेगा। इसको तो किसी भी दिन दगा नहीं देता है। जन्मसे लेकर अब तक बराबर बना हुआ है। यह मिटने वाला नहीं है, यह तो टिकने वाली चीज है, इस तरह अनित्य पदार्थमें नित्यबुद्धि बन गयी है, इसी कारणसे इसको भयका पात्र होना पड़ता है।

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥५१२॥

सम्यग्दृष्टिका निर्भयतापोषक अन्तःविचार—अज्ञानियोंको भय क्यों होता, उसका कारण बताया गया पर्यायबुद्धि। जब अपने शरीरमें, अपने रागादिक भावोंमें इसने आत्मबुद्धि कर ली है तो उससे इसको अपने आपकी सुध रही नहीं। बाह्य अनित्य पदार्थोंको आत्मारूप से मानें तो उनके बिगाड़का निरन्तर भय बना रहता है और उस भयके कारण यह अपने आपके अनुभवका पात्र नहीं हो पाता। तब ज्ञानीकी वृत्ति देखिये—ज्ञानीकी क्या अन्दरमें वृत्ति रहा करती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा अपनेको अकेला समझता है। देखिये—ज्ञान और अज्ञानका अन्तर इस संक्षिप्त वाक्यमें ही बता दिया गया। ज्ञानी पुरुष सदा अपनेको अकेला समझता है, ये बाह्य परिकर, परिजन, मित्रजन इनसे भी निराला केवल अपनी स्वरूप सत्ता में रहने वाले हैं और इस देहसे भी निराले केवल अमूर्त, केवल ज्ञानस्वभाव पवित्र प्रतिभास-मय पदार्थ हूं और यहां भी जो कषायभाव उत्पन्न होते हैं उन कषायभावोंसे भी निराला केवल एक शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं। ऐसा यह मैं अकेला हूँ, अकेलेपनका ज्ञानीके निरन्तर प्रतीति रहती है, इस कारण उसके न भय आता है, न कोई क्लेश आता है। अब समझ लीजिए कि हमको जो क्लेश उत्पन्न होता है वह हमारे भावकी गड़बड़ीसे ही होता है, किसी बाहरी पदार्थके कारण नहीं होना है। यह बात यों नहीं हुई। मेरेको अनिष्ट है आदिक कल्प-नायें करके यह जीव दुःखी होता है। बाहरमें तो जो पदार्थ जैसा है, जहाँ है उस ही ढंगमें उसरूप है। उससे मेरेकी कुछ हानि नहीं पड़ती है, लेकिन जीव अपने आपके भाव बिगाड़ करके दुःखी होते हैं। और भाव बिगड़नेका एक स्पष्ट रूपक यह है कि अज्ञानी यह सोचता है कि मैं परिवार वाला हूं, देह वाला हूं, इज्जत वाला हूं। किसी न किसी रूपका लगाव अपने आपमें बनाये रखे रहता है, बस यही उसके भयका कारण है। ज्ञानी जीव सदा इस अपने एकत्वको प्राप्त होता हुआ रहता है। मैं शुद्ध सामान्य चित्प्रतिभासमात्र हूं, यही है अमृतपान। लोग कहते कि अमृत पीनेसे जीव अमर हो जाता है। तो वह अमृत क्या चीज है? क्या कोई कोकाकोला जैसी पीनेकी चीज है या कोई सेव, संतरा जैसा फल है? अरे अमृत तो इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानको कहते हैं, जो न मरे सो अमृत। मृत न हो उसे ही तो अमृत कहते हैं। तो वह है यह ज्ञानस्वरूप, यह सहजज्ञान। इस सहजज्ञानको, इस सहज चैतन्यस्वभावको कोई अपने उपयोगमुखसे पान कर ले तो उसका नाम है अमृतपान। और जो ऐसा अमृतपान कर लेता है वह अमर हो जाता है। मर्म यह है कि आत्मा अमर तो पहिलेसे ही था ही। अनादि अनन्त तत्त्व है, किन्तु पर्यायबुद्धि होनेसे अपनेको अमर अनुभव नहीं कर पा रहा था। अब अमूर्त सहज ज्ञानस्वरूपका उपयोगमुखसे पान करनेपर यह अपने आपको अमर अनुभव कर लेगा। इसीके मायने हुआ कि यह आत्मा अब अमर हो गया। तो इस ही तत्त्वको अंगीकार करता है यह ज्ञानी जीव और समझता है कि ये जितने भी कर्म हैं, रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव हैं, ये तो सब कर्मके विकार हैं। मैं तो इनसे अतिरिक्त हूं, अलग हूं, निराला हूं, शुद्ध और चैतन्यस्वरूप हूं। अपने आपके स्वरूपके कारण जो मुझमें सहज बात है उतना मात्र हूं, अन्यरूप नहीं हूं। ऐसे ज्ञानीको सबसे विविक्त अपने चैतन्यस्वरूपका भान रहता है, इस कारण ज्ञानीके भय उत्पन्न नहीं होता।

शरीरं सुख दुःखादि पुत्र पौत्रादिकं तथा।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥५१३॥

सुख, दुःख, पुत्र, पौत्र आदिकसे विविक्तत्वकी आत्मभावना — सम्यग्दृष्टि पुरुष इन बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धमें क्या समझ रखता है, यह बात इस श्लोकमें बतायी गई है। उक्त श्लोकमें तो यह कहा गया था कि ज्ञानी जीव अपने आपके सम्बन्धमें क्या चिन्तन करता है, उसने अपने आपको कैसा देखा है? तो बताया गया था कि कर्मविकारसे निराला केवल चैतन्यमात्र ऐसा यह मैं एकत्वको प्राप्त अन्तस्तत्त्व हूं, इस तरहसे समझा था। अब जो बाहरी चीजें दिख रही हैं उनके बारेमें ज्ञानीका क्या चिन्तन होता है? वह बात इस श्लोकमें कही जा रही है। सम्यग्दृष्टि मानता है कि शरीर, सुख, दुःख आदिक पदार्थ और पुत्र पौत्र आदिक भिन्न क्षेत्रमें रहने वाले पदार्थ ये सभी अनित्य हैं और कर्मके कार्य हैं। जो मिला है मुझे वह भी कर्मका कार्य है अर्थात् वह मिलान कर्मके निमित्तसे हुआ है और जो देह प्राप्त हुआ है वह भी कर्मका कार्य है अर्थात् नामकर्म प्रकृतिके उदयसे यह देहरचना हुई है और जो सुख दुःख आदिक भाव उत्पन्न हुए हैं वे भी कर्म प्रकृतिके निमित्तसे हुए हैं। मेरेमें स्वरसतः स्वभावसे जो कुछ बात पायी जा रही है बस तन्मात्र मैं हूं और जो आगंतुक हैं, कर्म उपाधिके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं उन रूप मैं नहीं हूं। तो इस ज्ञानी जीवको जो कुछ बाहर में दिख रहा है वह सब कर्मकृत, पौद्गलिक, बाह्य चीज, विनाशीक चीज नजर आ रहा है। इसी कारण इन बाहरी पदार्थोंमें वह अपना लगाव नहीं रखता है, यहाँ इस विवेचनसे हमको यह शिक्षा चाहिए कि हम अपनेको अकेला मानें। अकेले हैं तभी तो अकेले अनुभवकी बात

http://sahjanandvarnishastra.org/

कही जा रही है। कहीं ऐसा नहीं है कि जो दुकेला हो, किसी परमें मिला हो, किसी परसे इसकी परिणति हुई हो और जब कहा जा रहा हो कि अपनेको अकेला अनुभव करना चाहिए ऐसा बहकानेकी बात नहीं कही जा रही। किन्तु जैसे शान्ति मिले, हित मिले, शुद्धता हो, यथार्थता आये, शरीरके संकट मिटें वैसे हितकी शिक्षाकी बात कही जा रही है कि हे आत्मन्! तू अकेला तो है ही, अपने को अकेला समझ भर ले, तेरे सारे झंझट, सारे संकट समाप्त हो जायेंगे। अब है तो अकेला और मान रहा है सबमें मिला हुआ, देहमें मिला हुआ, परिजनमें मिला हुआ, तो इस तरह विपरीत बुद्धि करनेसे अनेक कष्ट उठाने पड़ रहे हैं, तो अपने आपको अकेला अनुभव करनेका अधिकाधिक प्रयत्न करें। इस अकेलेकी व्याख्यायें अनेक हैं। मैं इन परिजनोंसे निराला हूं। यहाँ भी अपनेको अकेला माना, मैं इस देहसे भी निराला हूं यहाँ भी अपने को अकेला समझा और मैं इन रागद्वेष, सुख दुःख आदिकसे भी निराला हूं। इस तरह इसमें भी अपनेको निराला अकेला निरखा और मुझमें जो विचार तरंगें उठती हैं उनसे भी निराला हूं। सहज ज्ञानस्वरूप, इस तरह अपनेको अकेला देखा और यह मैं ऐसा अकेला हूं कि अशुद्ध अवस्था भी हो तो वहाँ भी पूर्वक्षण जो परिणमन होते हैं उन परिणमनों रूप भी नहीं बन पाता, उन परिणमनोंसे भी निराला हूं, ऐसा सहज ज्ञान-ज्योतिस्वरूप हूं। यह भी अकेला निरखना हुआ।

विविक्त आत्मतत्त्वकी भावनामें आत्मलाभ—जो जिस तरह भी अपनेको अकेला निरख ले वह सब लाभकारी है। कोई ऐसा निरख पाता है कि मैं सारी दुनियासे सर्वपरिजनसे निराला हूं। यह भी फायदा देता है। कोई ऐसा सोचे कि मैं अपने परिकरसे (परिजनसे) निराला हूं तो यह भी अपनी सीमामें लाभकारी है और अकेले-अकेले अन्तः निरखते-निरखते जो सहज चैतन्यस्वभावमात्र अपनेको निरख सकेगा तो वह बड़ा ही लाभ प्राप्त करेगा, ऐसे ही उस एकत्वगत चित्स्वरूपके आलम्बनसे कर्मक्षय होता है, संसारके संकट दूर होते हैं। तो इस जीवनमें करनेका काम कितना है? धर्मके लिए हमें क्या करना चाहिए? शान्ति हमको कैसे प्राप्त हो? संकट कर्म कैसे दूर हों? इन सबके लिए एक संक्षिप्त शब्दोंमें इतना ही मान करके चलियेगा कि हमें तो अपने आपको अकेला अनुभव करना है कि मैं अकेला हूं। लौकिक जन तो ऐसी बात सोच करके घबड़ा जाते हैं। हाय! मैं अकेला रह गया, अब क्या करूँगा? अकेला रहनेकी बात सुनकर यह दुःखी हो जाता है। लेकिन तथ्य यह है कि अपनेको अकेला अनुभव किया जायगा तो सारे दुःख दूर हो जायेंगे। हमने कभी अपने को अकेला अनुभव किया ही तो नहीं। इसका प्रमाण क्या है? इसका प्रमाण यह है कि अब तक शरीरमें फंसे हैं, जन्म मरण करते आ रहे हैं, यह ही यहाँ सिद्ध करता है कि इस जीवने अपनेको अकेला अनुभव नहीं किया। अपनेको भ्रान्त बनाये रहा। कोई शराबी शराबकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दुकान पर जाकर कहे कि मुझे शराब दो और बहुत ही बढ़िया शराब दो। तो वह कहता है कि अरे ये नालीमें गिरने वाले बेहोश पड़े हुए लोगोंको देख लो ना, जिनके मुखपर कुत्ते लोग पेशाब भी कर रहे हैं। इनको देखकर ही तुम समझ जावोगे कि यहाँ अच्छी किस्मकी शराब बिकती है या नहीं। तो ऐसे ही यहाँ दिखने वाले इन शरीरोंको ही देखकर समझलो कि यह जीव मोहमदिराको पीकर उन्मत्त बना हुआ भ्रमता फिरता है या नहीं। ये दिखने वाले शरीर ही इसके साक्षात् प्रमाण हैं। तो इस भ्रमको छोड़कर अपनेको अकेला अनुभवना यही कार्य करनेको पड़ा हुआ है, इसके लिए ही दृढ़ निर्णय हो और इसके लिए ही अपना प्रयत्न करें।

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोऽर्थतः।
मा ऽ परोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥५१४॥

नित्य आत्मतत्त्वरूप इहलोककी यथार्थ प्रतीति होनेके कारण ज्ञानीके इहलोकभयका अभाव—सम्यग्ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि जो यह लोक है सो यह मेरा चित्लोक ही तो है। मेरा आत्मा ही लोक है। लोक उसे कहते हैं जिसमें चीजें रहें, चीजें दिखें। तो यह मैं आत्मा मुझमें ही तो रहता हूं और मुझमें ही तो दुःखी होता हूं। तो मेरा लोक मेरेसे बाहर फिर है कहाँ ? इस तरह यह ज्ञानी जीव समझ रहा है कि मेरा तो निश्चयसे यह आत्मा ही लोक है और यह लोक भी मैं ही हूं और यह मेरा लोक नित्य है और नित्यके साथ-साथ यह ज्ञानानन्दका धाम है। किसी पदार्थका निज स्वरूप उस पदार्थके विनाशके लिए नहीं होता है अन्यथा वह स्वरूप ही नहीं ठहर सकता। तो मैं ही यह तो लोक हूं, सदाकाल रहने वाला हूं और यह ज्ञानानन्दका धाम हूं, इस ही लोकमें मैं रहा करता हूं, मुझे फिर इस लोकका भय क्या है ? किसी भी बाहरसे मेरेको शंका क्या है ? धन्य है वह पुरुष जो अपने आपमें ऐसी दृढ़ताके साथ निर्णय बनाये हुए है कि मेरा लोक तो यही मेरा आत्मा है। इस ही में मैं रहता हूं, यही मेरा सर्वस्व धाम है। यहाँ ही जिसको तृप्त रहना हो वह आत्मा तो निःशङ्क है, पूज्य है। तो ज्ञानी जीवका चिन्तन चल रहा है कि मेरा लोक तो यह मेरा चैतन्यभाव है। इसके अतिरिक्त और इसका अलग लोक नहीं है, इससे अतिरिक्त मेरा कहीं कोई लोक नहीं है, इस कारण मेरेको भय क्या है ?

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः।
इहलोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥५१५॥

इहलोकभयसे मुक्त ज्ञानीकी कर्मबन्धनमुक्तता—इहलोकभयकी परिभाषाके प्रसंगमें निष्कर्ष रूप यह अन्तिम श्लोक आया है। इसमें यह कहा जा रहा है कि स्वात्मसंचेतन होनेसे यह ज्ञानी ज्ञानमें ही एक तल्लीन होनेसे यह सम्यग्दृष्टि पुरुष इस लोकके भयसे मुक्त हैं और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर्मबन्धनसे भी मुक्त है अर्थात् उस भयकृत कर्मबन्धनसे मुक्त है। ज्ञानीको स्वात्मसंचेतन अपने आत्माका आत्मरूपसे अनुभव करना यह होता रहता है। इसी कारणसे वह ज्ञानमें तल्लीन रहता है। जैसे लोकमें कहते हैं कि तुमको आम खानेसे मतलब है कि पेड़ गिननेसे ? आम खानेसे काम है तो खूब खाओ ना, पेड़ोंके गिननेके चक्करमें क्यों लग रहे हो ? इसी तरह यहाँ भी देखो कि हे आत्मन् ! तुम्हें शान्ति पानेका काम है आत्मशुद्धता, स्वच्छता जो सहज हो, उससे तुम्हें काम है या दुनियाके बाह्यपदार्थोंके गिननेका काम है ? शान्तिका काम है तो बस इस ही निज शान्तिधाममें बसकर शान्ति पाते रहो, फिर बाह्य पदार्थोंमें कुछ भी लगनेका तुम्हें प्रयोजन क्या पड़ा है ? तो इस ज्ञानी जीवने ऐसे आनन्दधाम, ज्ञानमात्र निज तत्त्वका संचेतन किया है, इस ही कारण यह ज्ञानभावमें तल्लीन रहता है। ऐसा पुरुष तो इहलोकभयसे मुक्त है। उसे क्या भय है ? जिसने अपने आत्माको ही अपना घर समझा, लोक समझा, सर्वस्व समझा तो ऐसे पुरुषको यदि कोई उपद्रवी पुरुष फाँसी भी लगाये, शस्त्र से भी मार दे, जैसे कि हुई ही हैं बहुतसी बातें। किसीको शेरनीने खाया, कोई शस्त्रसे मारे गए, कोई आगमें जलाये गए। तो इतना सब कुछ होनेपर भी उनका आत्मा जो मुक्तिको प्राप्त हुआ उसके लिए अन्तः कितना अनुभवबल हुआ होगा कि जिससे कर्मबन्धनसे मुक्ति पाया ? वह दृढ़ बल है अपने इस चैतन्य लोकमें आराम करनेका। वेदना तो तब कहलाती है, दुःख तो उसका नाम होगा कि जब भीतरमें भी यह उपयोग ग्रहण करता हुआ, छटपटाता हुआ, संक्लेश करता हुआ, जहाँ एक ज्ञान स्वरसके अनुभवसे जहाँ एक निराकुलताका आनन्द लिया जा रहा हो वहाँ तो ये दुःख ही कुछ नहीं हैं। तो दुःखसे छूटना हो तो उसका उपाय है दृढ़तासे ज्ञानस्वभावका आलम्बन करना। इस उपायके बिना बाहरमें कुछ भी उपयोग हो, वृत्ति हो, कुछ भी किया जा रहा हो, वह तो शांतिके विरुद्ध बात है। तो इस ज्ञानी जीवको यह दृढ़ श्रद्धान है कि मेरा यह चैतन्यस्वरूप, मेरा यह आत्मा, यही लोक है, इसी कारण उस कोइस लोकका भय नहीं है।

परलोकः परत्रातमा भाविजन्मान्तरांशभाक्।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति ॥५१६॥

परलोकभीतिका निर्देश—इहलोकभयकी व्याख्या समाप्त करके अब परलोकभयकी व्याख्या कर रहे हैं, परलोक नाम है जन्मान्तर आत्माका, पर भूत भविष्यके जन्मान्तरके प्राणी होते हैं। एक भवके शरीरको छोड़कर अगले शरीरको प्राप्त होना, इसका नाम है परलोग, और इस परलोकसे जो भय उत्पन्न होता है उसका नाम परलोकभय है। जैसे जब कभी नरकोंका नरकोंके दुःखका वर्णन चल रहा हो और उपयोग बड़ी रुचिके साथ उस दुःख को सुन रहा हो, और उन दुःखोंको सुनते-सुनते ऐसा समक्ष दुःख आ गया ठीक है, ऐसा कठिन दुःख और उस दुःखको सुनकर एक बहुत भारी भयसा होना, तो उसके साथ यह बात

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी पड़ी हुई है कि मेरा कहीं ऐसा नरकवास न हो जाय। किसी भी दुःखी जीवको देख करके जो हृदयमें बड़ा दुःख उत्पन्न हो जाता है और उसका दुःख मेटनेके लिए प्रयत्न कर दिया जाता है तो यद्यपि यह करुणाभाव है, प्रशस्त भाव है, मगर विशेष दृष्टिसे विचार करें तो उसमें यह विचार मिला हुआ है कि कहीं मेरेको यह दुःख न हो जाय, अव्यक्त रूपसे मिला हुआ है, पर कुछ सम्बन्ध होता है जिससे उस प्रकारकी चेष्टा हो पड़ती है। अब इस दृष्टिसे देखा जाय तो परलोकके समाचारोंका यह ज्ञेय बनाकर रहने वाला उच्च पुरुष है और उस परलोकसे इस प्रकारका भय करने वाला उसके बादका पुरुष है। और खुद पाप करके उसको शंका बन गयी कि कहीं मेरा नरकवास ही न हो जाय। उस कालमें जो परलोकका भय बना है वह उससे जघन्य बात है, और ऐसा अज्ञानी मूढ़ जिसको परलोकका भय ही नहीं है वह तो और भी जघन्य है। तो एक जन्म छोड़कर दूसरे जन्मको अख्त्यार करे इसका नाम है परलोक और उन परलोकसे जो कम्पकी तरह त्रास होता है अर्थात् अपने आपको कंपा देने वाला एक अन्तः त्रास होता है उसको कहते हैं परलोकभय। उस परलोकभयका संक्षिप्त स्वरूप कहकर अब उसको उदाहरणपूर्वक कह रहे हैं।

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥५१७॥

स्वर्गलोकमें जन्म व दुर्गतिमें जन्म न होनेकी वाञ्छासे व्याकुल चित्तकी परलोकभयरूपता—अज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन करता है कि मेरा स्वर्गमें जन्म हो और चाहता है कि बुरी गतियोंमें, (पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदिककी गतियोंमें) मेरा जन्म कभी मत हो। इस प्रकारकी चिन्तनासे क्षसका चित्त आकुलित हो जाता है। क्यों आकुलित होता है कि ऐसा सोचनेका आधार भी उसका खोटा भाव है। स्वर्गोंका ऐसा हाल सुनकर कि वहाँ तो बड़ा पवित्र देह मिलता है जिसमें फोड़ा, फुंसी, दाद, खाज आदि भी नहीं होते हैं ऐसा निरोग शरीर मिलता है और खानेके लिए तो उन्हें कहीं हजारों वर्षोंमें भूख लगती है तो उनके कंठ से अमृत झर जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। (देखिये—यहाँ अमृतका नाम सुनकर लोगों के मुखमें पानी आ जाता है, वे सोचते हैं कि अमृत कोई कोकाकोला जैसी पीनेकी चीज होगी अथवा कोई फल जैसा होगा, पर ऐसी बात नहीं है) तो हजारों वर्षोंमें भूख लगनेपर कंठसे अमृत झर जाता, श्वास भी कहीं पखवारोंमें लेनी होती। (श्वास लेना भी तो एक दुःखकी ही चीज है, अभी यहाँ किसीकी श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगे तो वह तो बड़ी जल्दी हैरान हो जाता है।) तो ऐसी कोई वेदनायें देवगतिमें नहीं होतीं। उनके पास कितनी ही देवांगनायें होती हैं, वे जहाँ चाहे रमण करें, जहाँ चाहे विहार करें····आदि। इस प्रकारकी अनेक बातें सुनकर अज्ञानी जनोंके चित्तमें यह बात बैठ जाती है कि हमें तो देवपर्याय प्राप्त

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो । वे अज्ञानी जन निरन्तर ही देवपर्याय पानेके लिए लालायित रहते हैं । तो इस तरहसे लालायित रहना, यह किस बातपर आधारित है ?····यह तो खोटे भावोंपर और विषयोंके परिणामपर आधारित है । जब उनका सोचना एक पापभावमय बन रहा है और साथ ही यह भी सोच रहे हैं कि इन पशु-पक्षी आदिक पर्यायोंमें मेरा जन्म मत हो । तो इन धारणाओं के कारण उन अज्ञानी जनोंका चित्त आकुलित रहता है, उनको परलोकका भय बना रहता है । ज्ञानी जीवको परलोकभय नहीं है । उसका उत्कृष्ट आधार तो यही है कि परलोककी तरफ उसका ध्यान ही नहीं है । तो कहाँ ध्यान है ?····अपने एक चित्स्वरूपकी ओर ध्यान है । इस विकल्पमें वह जा ही नहीं रहा है, और अगर जा भी रहा है इस विकल्पमें, इसका ज्ञान कर रहा है तो एक अपने आपमें ज्ञानाभ्यासके बलके कारण अपने आपमें भरा-पूरा अनुभव बना रहनेके कारण उसकी चर्चा चल ली, परिचय हो गया, यह भी देखो संसारका कैसा दृश्य है, और कदाचित् उस परलोककी बात सुनकर ध्यानमें आया कि ये मेरी भी गतियाँ मत हों। तो ऐसा चिन्तन करनेमें उसका आधार है शुद्ध स्वरूपका दर्शन, और उसके एवजमें बनी है भीतरमें अभिलाषा एक इस शुद्ध स्वरूपके परिणमनकी । यहाँ तक तो ज्ञानका सम्बन्ध है, पर इससे और गए बीते होकर परलोकविषयक ध्यान बना तो वह सब मिथ्यात्वका प्रताप है । परलोकमें कितना कठिन दुःख है ? यह मेरेको मत हो, उसके एवजमें उसने सोचा है कि मैं राजा महाराजा होऊँ, स्वर्गोंका देव बनूं । यह परलोक मेरा मत हो आदिक इसके एवजमें यदि सोचा हो कि मेरा तो जन्म ही मत हो, तब तो कुछ बात थी, लेकिन यह तो उसके एवजमें जन्म ही सोच रहा है । सामान्यतया यह बात सुनकर लोग ऐसा सोच सकते हैं कि कोई यदि यह सोचता है कि मेरा इन नारकादिक कुयोनियोंमें जन्म मत हो तो वह तो अच्छा ही सोच रहा है । बुरा क्या सोच रहा है ? इतना कुछ शब्दोंसे जंच रहा है कि ऐसा सोच रहा है, मगर उसके एवजमें जो देवगतिमें जन्म लेना, राजा महाराजा होना सोच रखा है तो इस विषके कारण यह चिन्तन भी विष बन गया । यों ज्ञानी जीव तो परलोकभयसे रहित है और अज्ञानीका चित्त आकुलित है । उसे परलोकका भय रहता है ।

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्रव्यत्ययात् ॥५१८॥

मिथ्याभावके कारण मिथ्यादृष्टिके ही परलोकभयका स्वामित्व—मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्याभावोंसे परलोक सम्बन्धी भय हुआ करता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसा भय नहीं है । इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यात्वका उदय नहीं है । तो परलोकभयका कारण भयमात्रका कारण भयसे लगाव रखकर, भीतरसे कंप जानेका कारण तो मिथ्यात्वकर्म का उदय है । भय आना दूसरी बात है और भयके परिणामको लेकर भीतरसे ही भीत रहना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह अज्ञानियोंकी बात है। ज्ञानी पुरुषको भी कुछ पदों तक भय हो जाया करता है, लेकिन जो भयका परिणाम होता है उन भयपरिणामोंसे लगाव न होनेके कारण वह भीतरसे भयभीत नहीं रहता। या यों कह लीजिए कि भय करता है, पर भयका भी भय कर रहा है। जो भयपरिणाम जग रहा है उससे अलग बन रहा है, उससे डरकर अलग रहता है। तो जिसको भयसे भय है उसे भयभीत कैसे कहा जा सकेगा? और जो भयमें लगा हुआ है भयभीत तो उसे कहा जायगा। तो इस सर्वभयका कारण मिथ्यात्वकर्मका उदय है, वह सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं है, इस कारणसे सम्यग्दृष्टि जीवको भय नहीं बताया गया है। भयसे भीतर में भीत बन जाता। भयके कारण भीतरमें भी डर जाता, इससे उसके भय नहीं कहा गया।

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥५१६॥

मिथ्यामात्रैकभूमिक अनात्मज्ञ मिथ्यादृष्टिको स्वकी कर्मकर्मफलात्मकरूपमें प्राप्ति— मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्माको नहीं पहिचानता। जिसको अपने आत्माका अस्तित्व ही उपयोगमें प्रत्यक्षभूत नहीं है, ऐसे जीवके क्या परिणाम होते हैं, उसका क्षेत्र तो मिथ्यात्व ही है। वह बोलेगा तो उसमें भी मिथ्यात्वकी गंध रहेगी, जो सोचेगा उसमें भी मिथ्यात्वकी गंध मिथ्यापनसे वह किसी भी जगह दूर नहीं हो पाता। धर्म करेगा तो उसमें भी मिथ्यात्वकी गंध। मिथ्यादृष्टि जीवकी किसी भी चेष्टामें विश्वास नहीं किया जा सकता। कहो धर्म कर रहा है। भगवानके आगे बड़े जोर-जोरसे भक्ति कर रहा है और किसीने कह दिया कि जरा धीरे पढ़ो, तो वहीं आग-बबूला हो जाता है। तो ऐसे अज्ञानी पुरुषका यही होश नहीं है कि मुझे क्या करना है? बड़ी भीड़ मची हो और भगवानके दर्शन करनेके लिए जगह न मिल रही हो भीतर जानेके लिए तो यह ज्ञानी तो भीड़के बाहर ही वहींसे देखेगा तो देखकर या न भी देख सका तो यों ही ज्ञानचक्षुसे देखकर उन्हें नमस्कार करके तृप्त हो जायगा, पर अज्ञानीको यह धीरता नहीं रहती, वह तो भीड़को चीरता हुआ कुछ बड़बड़ाता हुआ, गुस्सा होता हुआ वहाँ पहुंचेगा। वह तो सबसे आगे पहुंचनेकी कोशिश करेगा। उसे कुछ दूरसे ही अगर भगवानकी मूर्तिके दर्शन हो जायें तो उससे वह सन्तोष न करेगा। वह जब सबसे आगे पहुंचकर दर्शन करेगा तब समझेगा कि अब मैंने भगवानके दर्शन किए। तो ज्ञानी जीव और अज्ञानी जीवकी अन्तर्वृत्तिमें बहुत अन्तर होता है। तो मिथ्यात्व ही जिसका क्षेत्र है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्माको नहीं पहिचानता। जैसे कोई किसान अपने २०–२५ बीघा जमीनके बीच खड़ा होकर उसे देखकर बहुत तृप्त होता है। क्योंकि वह अपने क्षेत्रमें खड़ा है और उस क्षेत्रका आनन्द ले रहा है, ऐसे ही मिथ्यात्वके क्षेत्रमें ही मिथ्यादृष्टि पड़ा है और उस ही मिथ्यात्वके क्षेत्रमें स्थित होकर कुछ भी सोचकर, बोलकर, प्रवृत्ति करके वह तृप्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होता रहता है। यह मूर्ख अर्थात् पर्याय मोहित हुआ यह मूढ़ जीव कर्म और कर्मफलके स्वरूप को आपा मानता है, इस कारण इसके परलोकभय बना रहता है।

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥५२०॥

मिथ्यादृष्टिकी शाश्वत भ्रान्तरूपता—जिसकी मिथ्यात्व मात्र भूमि है। जैसे कि जिसके अनेकों बीघा खेती है और अपनी खेतीके बीच अनुभव करता है कि यह भी भूमि है और उस भूमिके बीच खड़े होकर अपने आपमें एक अहंकारका अनुभव करता है, इसी प्रकार एक मिथ्यात्वभूमिमें रहते हुए यह अज्ञानी जीव उस मिथ्यात्वभूमिके जो जो भी अंकुर हैं, धान्य हैं, खेती है, उनकी हरियालीको देखकर यह अपनेमें अहंकारका अनुभव मानता है और उस स्थितिमें आत्माको न जानता हुआ यह बहिर्दृष्टि जीव अपनेको कर्म और कर्मफलात्मक अनुभव करता है। यही कारण है कि यह अज्ञानी जीव सदा भयभीत रहता है, क्योंकि इस को भ्रान्ति यह है परपदार्थमें आत्मत्वका भ्रम होना और परको भी परके ढंगसे न जान सके, उसे भी अन्य-अन्य रूपसे समझ रहा है तो इस भ्रान्तिके कारण यह सदा भयभीत है। भयभीत है—इतना ही नहीं, किन्तु उसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। जैसे कि मृगतृष्णाको जल समझने वाला हिरण वहाँके लिए, जल पानेके लिए निरन्तर दृष्टि रहती है। आगे बढ़ा, फिर दूरकी रेतीली जमीन पानी जैसी दिखी तो पास पहुंचकर वह सोचता है कि यहाँ नहीं है पानी, पानी तो वह आगे है, इस तरह परिश्रम करता रहता है। तो यों मिथ्यादृष्टि जीव भी उपयोगका व्यायाम कराता है, परिश्रम करता है। वैसे आत्माके कोई अंग नहीं हैं कि जिससे परिश्रम करे, भीतर ही कल्पनायें गढीं और खेदखिन्न हुआ, विश्रान्त हुआ, बस यही उसका घोर परिश्रम है। तो यों यह अज्ञानी जीव भयभीत रहता है और भ्रान्त रहता है।

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥५२१॥

भ्रान्तिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टिकी सदा निर्भयता—जब कि परलोकके विचार करनेके सिलसिलेमें यह जीव भ्रान्त और भयभीत रहता है तब मिथ्यादृष्टि जीव उस सम्बन्ध में किसी तरहका चिन्तन करता है और क्या उसकी स्थिति होती है उसका वर्णन इस श्लोक में किया जा रहा है। अन्तरात्मा तो सदा निर्भय रहता है, क्योंकि वह निर्भय स्थानपर पहुंच चुका है, निर्भय है यह आत्मपद। जहां यह निर्णय हुआ कि मैं तो मात्र चित्प्रतिभास स्वरूप हूं, इस मुझ चित्प्रतिभास स्वरूपका न कोई शत्रु है, न कोई परिचय करने वाला है, न कोई इसका घर है, यह तो केवल अपने चैतन्यस्वरूपके कारण उत्पादव्ययध्रौव्य अपनेमें करता रहता है। तब इसका किसी परसे सम्बन्ध नहीं, किसी परका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इसमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आता नहीं। तब इसमें भय किस बातका ? जब ही भय हुआ करता है, जब किसी परपदार्थ में दृष्टि गड़ती है, सो अन्तरात्मामें अपने आपके विविक्त स्वरूपका भली-भाँति निर्णय किया है, और उस निर्णयके साथ उस स्वरूपके अनुरूप अपना आचरण भी बना रहा है, इस कारण उसे भय नहीं होता है। तो यों जब सम्यग्दृष्टिके भ्रान्ति ही नहीं है, निजको निज, परको पर जान लिया है, फिर उसको भय किस कारणसे होगा ? यों सम्यग्दृष्टि जीव परलोकके सम्बंध में भी भय नहीं करता। उसका यह स्पष्ट संचेतन है कि यह मैं हूं। यहाँ हूं तो यह मैं हूं, आगे हूं तो यह मैं हूं, मेरा परलोक भी यही है। परलोकमें मुझे क्लेश नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि मुझ आत्मामें क्लेश न हो तो मैं आत्मा क्लेशके स्वभावसे रहित हूं। पौरुष यह है कि जिससे स्वभावपर अपना उपयोग जाय, दृष्टि जाय, आलम्बनका स्वभाव ले, बस वही अभय पद है।

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासद्द्रवत्यधीः ॥५२२॥

मिथ्यादृष्टिके वस्तुका अन्यथा श्रद्धान—मिथ्यादृष्टि जीवको क्यों अभय पद प्राप्त नहीं हो रहा ? वह अपनेको निर्भय बनानेके लिए प्रयत्न तो अनेक करता है। बड़े-बड़े किले बनाये, गुप्त जगहमें रहे, अनेक प्रकार रक्षा सम्बन्धी साधन बना ले, फिर भी उसे भय क्यों रहता है ? इस कारण भय रहता है कि भ्रमका कारणभूत जो भ्रम है वह साथ लगाये हुए है। यदि किलेके भीतर भी वह बैठा है तो बाहरसे तो भीतर आ गया अथवा किलेकी भींतके भीतर तो आ गया, पर भ्रमसे हटकर भीतर तो नहीं आया। जैसे किलेके बाहरी स्थानको उसने छोड़ दिया, लेकिन इस आत्मदुर्गसे भयको तो नहीं निकाला। भयमें इसको लगाव है, भ्रान्तिमें इसको लगाव है, इस कारणसे यह सदा भयवान रहता है। जैसे अंधकारके समय थोड़ा उजेला हो और अंधकार विशेष हो तो उस अवसरमें सामने पड़ी तो हो रस्सी और भ्रम हो जाय कि यह तो सर्प है, तो सर्प है इतना जानते ही उसके अन्दर क्षोभ आ गया। वह यद्यपि नहीं सरक रहा है, नहीं कोई बाधा पहिचान रहा है, किन्तु देख ही लिया है १०-५ हाथ दूरसे और यह भ्रम हो गया कि यह सर्प है, इस प्रकारका ज्ञान आते ही अन्तः क्षोभ मच गया। तो जैसे रस्सीमें सर्पका निश्चय होनेसे भय उत्पन्न होता है इसी प्रकार इस मिथ्यादृष्टि जीवके मोहांधकारके कारण हैं कुछ और जान रहा है कुछ, बस इसी व्यवस्थाके कारण उसे भय उत्पन्न होता है। इस डरने वालेको भी तो यह बात हुई कि थी तो रस्सी और जान गए सर्प, तो मोहमें भी यही हुआ कि है तो कुछ और, जानता है कुछ, बस इस भ्रमके कारण निरन्तर भय रहता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥५२३॥

स्वसंवेदनप्रत्यक्षरूप ज्योतिको आत्मसात् करने वाले ज्ञानीके भयहेतुतताका अभाव— जो पुरुष सुसम्वेदन प्रत्यक्षरूप ज्योतिको अपनेसे अभिन्न जानता है वह क्यों डरेगा, क्योंकि जिस सुसम्वेदनके विषयभूत ज्ञानज्योतिको अपना माना, यह मैं स्वरूप हूं, इस निर्णय करने वाले ज्ञानी पुरुषके यह ख्याल ही नहीं आ सकता है कि यह ज्योतिस्वरूप कभी जड़ बन जाय, यह कभी रागरूप बन जाय। जो मेरा सहजस्वरूप है वह स्वरूप रागद्वेषादिक रूप भी नहीं बनता। भले ही कर्मविपाक है, रागादिक परिणमन होता है, लेकिन जिसको उसने स्वीकार किया है वह मैं रागादिक विकारोंसे रहित हूं। कैसा अन्तः प्रवेश करके स्वभावका हस्तावलम्बन किया है। तो उसके इस निर्णयके कारण अकल्याण कुछ हो ही नहीं सकता। जो पदार्थ जिस स्वरूप है वह पदार्थ उस स्वरूपसे विपरीत हो ही नहीं सकता है, ऐसा निश्चय करने वाले जीवको भय किस कारणसे होगा ? यों इस सम्यग्दृष्टि जीवको जिसे इहलोकका भय न था वह जानता था कि यह मैं पूरा यही ज्योतिस्वरूप हूं, इसीमें मेरा सब कुछ वैभव है, इसीमें मेरा सर्वस्व है। इसको कौन छीन सकता है ? इसमें कोई प्रकारका भय नहीं है, ऐसा जानकर इहलोकभयसे मुक्त था। इसी प्रकार परलोक भी वही चैतन्यस्वरूप मात्र है। इस स्वरूपमें कहीं कोई डर नहीं है, कोई परका प्रवेश नहीं है। ऐसा जानने वाले इस तत्त्वज्ञको परलोकका भय नहीं होता।

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥५२४॥

आगन्तुक बाधा आनेसे पहिले ही कम्प होनेरूप तथा मोहसे परिवेदनरूप वेदनाभय का निर्देश— अब वेदनाभयका वर्णन करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीवको वेदनाभय भी नहीं होता। इस वर्णनसे पहिले वेदनाभयका स्वरूप बताया जा रहा है। वेदना कहते हैं वात, पित्त, कफ इन तीनोंके होनेसे शरीरमें आयी हुई वेदनाको। इनमेंसे किसी भी एकका अथवा दो का अथवा तीनोंका कोप हो जाय। अपनी साम्य अवस्था तजकर विसम अवस्थामें आ जाय तो उस समय शरीरमें बाधा आती है। जितनी भी शरीरमें वेदनायें हैं वे सब शरीरके वात, पित्त, कफ आदिकपर आधारित हैं। जैसे आजकल ब्लडप्रेशर, स्नोफीलिया आदिक अनेक रोग जो बताये गए हैं वे और क्या चीज हैं ? अरे वे भी इन तीन मलोंके कोप वाले हैं। तो ऐसे जितने भी रोग हैं वे तीनोंके कुपित होनेके आधारपर हैं। कभी कोई फोड़ा-फुंसी हो गयी तो वहाँ खूनकी गतिमें जगह हो गयी और खूनके रुक जानेसे उस स्थानमें जो अविशिष्ट खून आदिक हैं उनको जब गति न मिली, खून तो गतिके कारण ही निकलता है। यदि उसकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गति रुद्ध हो गयी तो वहाँ फोड़ा-फुंसी हो जाती हैं। तो इन मलोंके कोपसे जो शरीरमें बाधा है उसका नाम वेदना है। उस वेदनाके चिन्तन मात्रसे अथवा वेदना आयी नहीं है, ख्याल बन गया है कि ऐसा भी हो सकेगा, यह वेदना भी बढ़ सकेगी, इसके ख्याल मात्रसे जो कम्प हो जाता है, पहिले ही आत्मामें जो क्षोभ मच जाता है उसका नाम है वेदनाभय अथवा मोहसे जो रोना-चिल्लाना है वह सब वेदनाभय है। वेदना आनेपर भी वेदना हो है और वेदना आनेसे पहिले भी वेदना हो जाना वेदनाभय है।

उल्लाघोहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित्।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥५२५॥

वेदनाभयमें निरोग होनेका बार-बार चिन्तन—यदि रोग आया हुआ है तो ऐसा बार-बार चिन्तन करना कि मैं निरोग हो जाऊँ, इस रोगसे परे हो जाऊँ और यदि वेदना नहीं आयी है तो उसके सम्बन्धमें यों चिन्तन करता कि मेरेको वेदना नहीं आयी, इस तरह के बराबर चिन्तवनको वेदनाभय कहते हैं अथवा उसमें मूर्छा हो जाना इसका नाम वेदनाभय है। जिन पुराणपुरुषोंके कठिनसे कठिन वेदना भी आयी, उनको वेदनाभय नहीं आया, वे तो अपने निरोग आत्मस्वरूपमें ही मग्न रहे, उसका फल यह हुआ कि उनको मुक्तिका लाभ मिला। सनतकुमार चक्रवर्ती जैसे पुरुष जो कि रूपमें कामदेव कहलाये, पर किसी घटनासे वैराग्य जगनेके कारण निर्ग्रन्थ होनेके बाद जो उनको कुष्ट रोग हो गया तो आप कल्पना करो कि जिसने पहिले चक्रीका रूप देखा हो, ऐसा प्यारा रूप, ऐसा मनोज्ञमूर्ति जो सर्वको प्रिय हो और कुष्टवेदनासे व्यथित हो जाय तो कठिनसे कठिन हृदय भी रो पड़ेगा। ऐसी कठिन वेदना के बीच भी जिन्होंने रंच भी कष्ट नहीं माना, उनको बात कौनसी मिला गई थी? उनको मिला था वेदनारहित शुद्ध आत्मतत्त्वका चिन्तवन, दर्शन। इस ही अनोखी चीजके पा लेनेके कारण उन्होंने रंच भी भय नहीं माना, रंच भी वेदनाका अनुभव नहीं किया। वस्तुतः तो वेदना नाम है जाननेका। वेदना हो रही अर्थात् शरीरमें जो कुछ भी हो रहा है उसकी जानकारी चल रही है। लेकिन जिस जानकारीसे लोगोंकी संख्या अधिक हो उसके अनुसार उस जानकारीका स्वरूप बन जाता है। तो जानकारी केवल रखने वाले तो विरले थे और उनमें अनुभव करना, विकास होना, दुःखी होना, उस तरहसे जानना, ऐसी जानकारीके लोग ये अनगिनते हैं। तब इस जानकारी शब्दमें तो वेदना शब्दका पूरा रूप हो गया। वहाँ सनतकुमार चक्रीकी एक देव परीक्षा करने आया। मानो वही देव हो जिसने पहिले रूपकी परीक्षा की हो। एक बार वह देव सनतकुमारको देखने गया था, उस समयका उनका सौन्दर्य एक अनोखा ही था, पर दूसरी बार जब वह देव गया तो उस समय राजदरबारमें खूब सज-धजकर वह बैठे हुए थे, उस समय वह देव माथा ठोककर कहता है—हाय, इनमें अब वह रूप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं रहा जो पहिले था। उस देवने उस समय भी उन सनतकुमारकी परीक्षा की, जब कि वह दिगम्बर मुद्रामें थे और कुष्टके रोगसे पीड़ित थे। एक वैद्यका रूप रखकर वह देव पहुंचा और बोला कि मेरे पास हर रोगकी पेटेन्ट दवायें हैं तो वहाँपर भी उन सनतकुमार मुनिराज ने अपने इस शारीरिक रोग (कुष्ट रोग) की दवा नहीं माँगी, किन्तु कहा कि हमारे जो जन्म मरणका भयंकर रोग लगा हुआ है उसकी दवा यदि आप दे सकें तो दें। तो देखिये—उन मुनिराजकी दृष्टि इन शारीरिक वेदनाओंपर रंच मात्र भी न थी। उन्होंने तो अपने आत्मस्वरूपका ऐसा अनोखा वैभव पाया था कि जिससे वे पूर्ण तृप्त थे। तो यह वेदनाभय इस ज्ञानी जीवके नहीं होता। कारण उसका यही है कि उसे कोई ऐसी अलौकिक ऋद्धि मिल चुकी है कि जिससे उसकी दृष्टि इन शारीरिक वेदनाओंकी ओर रहती ही नहीं है। पर जो मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी जन होते हैं वे तो इन शारीरिक वेदनाओंसे सदा भयभीत रहा करते हैं।

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥५२६॥

दृष्टिदोषके कारण मिथ्यादृष्टिके वेदनाभयका स्वामित्व—मिथ्यादृष्टि जीवको दृष्टिदोष होता, उस दृष्टिदोषरूप एक हेतुके कारण उसके नियमसे वेदनाभय होता है। शरीरमें कहीं कोई फोड़ा-फुंसी हो गया या कुछ भी छोटा मोटा रोग हो गया तो वह सदा इस बातके लिए चिन्तित बना रहता है कि कहीं मेरा यह रोग बढ़ न जाय, यदि बढ़ गया तो फिर मेरा क्या हाल होगा? अथवा बहुतसे लोग परिवारके पालन-पोषण आदिकी बात सोच-सोचकर चिन्तित रहा करते हैं। बहुतसे लोग इस शरीरको कांतिमान (सुन्दर) बनाये रखनेके लिए चिन्तित रहा करते हैं। यदि शरीरके सौन्दर्यमें जरा कमी आ गयी तो दुःखी हो जाते हैं। भला बतलाओ—इन व्यर्थकी बातोंमें चिन्तायें करनेसे इस आत्माका कुछ भी पूरा पड़ जायगा क्या? अरे ये समस्त परचीजें हैं। ये सब तो एक दिन छोड़कर ही जाना होगा, फिर क्यों व्यर्थमें इनके प्रति इतनी चिन्तायें की जायें? जरा इस बातका साहस बनाना चाहिए कि इस शरीर से अपने उपयोगको हटाकर अपने आत्मस्वरूपमें अपने उपयोगको ले जायें। यह बात मिथ्यादृष्टिके तो सम्भव नहीं है, इसी कारण उसके निरंतर वेदनाका भय बना रहता है। यह भूख भी एक वेदना है। भूखमें घबड़ा जाना और उस भूखकी शान्तिके लिए नाना तरहके चिन्तन और प्रयत्न करना, ये सब वाहियात बातें हैं। शरीरको टिकाये रखना जरूरी है, इसलिए तो भोजन करना ठीक है, पर उस भोजनके सम्बन्धमें व्यर्थके विकल्प बनाना, उससे अपने उपयोगको बिगाड़ना इससे कौनसा लाभ मिल जायगा? सम्यग्दृष्टि जीवको तो इस शरीरसे विमुक्त शुद्ध आत्मतत्त्वका दर्शन हुआ है। इस कारण उसकी अनेक समस्यायें, जिनमें अज्ञानी जन उलझे रहा करते हैं, उनके सब सहज ही सुलझ जाती हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम् ।।५२७।।

पुद्गलसे भिन्न अमूर्त चिद्धामको आत्मसात् करने वाले ज्ञानीको भयका अनवकाश—वेदनाभयके वर्णनके प्रसंगमें इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टिका चिन्तन किस प्रकार होता है ? सम्यग्दृष्टि इस तरहका चिन्तन करता है कि मैं तो एक चैतन्यमात्र हूं, चैतन्यका साधन हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, जो कि पुद्गलसे भिन्न है, शरीर पुद्गल है, उससे भिन्न है यह चैतन्यस्वरूप । यही मेरा धाम है, ऐसे चैतन्यस्वरूप मुझ आत्माको व्याधि कहाँसे हो सकती है ? वह तो अमूर्त है । अमूर्त आत्मामें ज्योतिस्वरूप अंतस्तत्त्वमें व्याधिका क्या प्रसंग है, ऐसा उसके दृढ़ निर्णय पड़ा हुआ है, इस कारण व्याधिसे उसे भय नहीं होता । यह सब प्रताप है निज शुद्ध अन्तस्तत्त्वको आत्मारूप मान लेनेका, यह ही मैं हूं इस ओर दृष्टि देता है, उसे ही व्याधिका भय नहीं रहता । जितनी व्याधियां हैं वे सब शरीरको हुआ करती है, मुझ अमूर्त आत्माके व्याधियाँ नहीं हैं । इस तरह सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपके विषयमें चिन्तन रख रहा है । उक्त श्लोकमें वेदनाभयका स्वामी मिथ्यादृष्टिको कहा था । सम्यग्दृष्टिके भय नहीं है, इसका कारण है कि उसके यह निर्णय है कि इस मुझ आत्मस्वरूपमें किसी प्रकारकी कोई व्याधियाँ ही नहीं हैं । इस कारण उसे बाहरी व्याधियोंसे भय नहीं होता ।

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ।।५२८।।

अग्निसे आकाश न जलनेकी तरह वेदनासे आत्माके दहनके अभावका चिन्तन—जैसे घरमें आग लग जाय, वह घर तृण, काठ आदिसे बनी हुई कुटीके रूपमें हो तो कुटीर जल रहा है और उस कुटीरकी जगहमें जो आकाशस्थल है वह नहीं जला करता है । तो जैसे बहुत जोरसे लगी हुई अग्नि मकानको ही जला रही है, पर मकानके आकारमें जो आकाश है उसको नहीं जला सकती । यह बात तो प्रसिद्ध है ना । तो इसी तरह जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, खून, हाड़, मांसमय देह है, इसमें अनेक रोग आ जायें और उन रोग व्याधियोंसे यह शरीर जल जाय, लेकिन जो अमूर्त आत्मा है वह तो इन व्याधियोंसे नहीं जल सकता अर्थात् व्याधियोंका असर इस अमूर्त आत्मामें नहीं होता । जिसको भी असर होता है उसको अपने अज्ञान से होता है । तो उसमें भी कल्पनामें माना कि मेरेको अमुक रोग हुआ है, हुआ है शरीरमें रोग । हाँ यह बात अवश्य है कि उस प्रकारके रोग तब हो जाते हैं जब कि आत्मा शरीरमें हो । तो इतना निमित्तनैमित्तिक भाव समझ लीजिए, पर वस्तुतः रोग आत्मामें नहीं होता, वह तो शरीरमें ही होता है । और यह अज्ञान जिसका मिट गया कि मैं देह हूं उनको स्पष्ट उन व्याधियोंकी ओरसे कोई भय नहीं होता । उनका तो यह निरखना हो रहा है कि देह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में ये सब व्याधियाँ हो रही हैं, इस मुझ अमूर्त आत्मामें ये कोई बाधायें नहीं हैं।

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ।।५२६।।

विषयोंमें आदर न रखने वाले ज्ञानीके भयकी असंभवता—भयका कारण क्या है यह, और इस भय कारणके न होनेसे सम्यग्दृष्टिके निर्भयता होती है। इसका वर्णन इस श्लोक में किया है। जो वर्तमानमें प्राप्त विषय है, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र सम्बन्धी जो भी विषय प्राप्त हैं या भविष्यकालमें जो ये विषय मिलने वाले हैं उनमें जिनको आदर नही है वे तो निर्भोक्त रह सकते हैं, और जिनके विषयोंमें इच्छा लगी हुई हैं उनमें निर्भीकता नहीं आ सकती है, क्योंकि उन्हें है इन इन्द्रियविषयोंकी अभिलाषा। तो अभिलाषाका अर्थ रहा कि यह साधन मिलना चाहिए तो इस ओर लग गई इस अज्ञानीकी धुन, पर अब उसमें दिख रही हैं बाधायें इन्द्रिय विषयोंमें साक्षात् अथवा निमित्त परम्परासे दिख रही हैं बाधायें, तो उन बाधाओंमें यह जीव भय मानता है। कहीं ऐसा नहीं होता कि ये विषय तो न आयें, इस तरह जिनको विषयोंमें ही इच्छा है उनको ही तो भय है और जिनके विषयोंमें इच्छा नहीं है ऐसे सम्यग्दृष्टियोंको भय भी क्या है ? देखिये—विषय उपभोग और शरीरवेदना ये दो एक प्रतिपक्षी जैसी चीजें हैं शरीरके लिए। कहाँ तो शरीरका पुष्ट करना, शरीरको सुहावने की बात जोड़ना, यह तो हुआ शरीरभोग और किसी शरीरमें व्याधियाँ होना, तो जिस पुरुष को शरीरभोगोंसे प्रीति है उसको शरीरव्याधिसे डर है, जिसको शरीरभोगोंसे ही प्रीति नहीं रही तो उसे व्याधियोंसे क्या डर रहा ? अथवा सामान्यतया भय तब कहलाता है कि जब भोगोंकी अभिलाषा हो। जब भोगोकी अभिलाषा न रही तो फिर सम्यग्दृष्टि जीवको भय किस बातका ?

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नाऽसिद्धोऽनादरो मनाक् ।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामाभयस्याविशेषतः ।।५३०।।

इन्द्रियविषयोंकी बाधाहेतुता व व्याधिस्थानीयता—इस श्लोकमें बता रहे हैं कि व्याधियाँ तो जीवके लिए खास तो इन्द्रियके विषय हैं। इन्द्रिय द्वारा बाह्य पदार्थोंके भोगनेकी जो भीतर अभिलाषा बसी है आत्मामें रोग तो यह लगा है, जैसे नाड़ी पकड़कर वैद्य बताता है कि इसको यह रोग है, इसको यह कष्ट है, पित्त प्रकोप है, वायु बढ़ गया है आदिक जैसे रोग वैद्य बताता है वैसे ही आत्माकी नाड़ी पकड़कर अर्थात् आत्माकी स्वाभाविक और वैभाविक पर्यायोंकी परीक्षा करते हुए यह बताया जायगा कि आत्मामें लोग स्पर्शनइन्द्रियके विषयों की इच्छा रखे हैं, उनके विषयोंके रोग लगे हैं आदिक विषयकषायोंके रोगोंकी बात आत्मामें सही है, पर व्याधियोंकी बात तो शरीरके अन्दर है, तो व्याधियाँ जैसे शरीरमें हैं और व्याधि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

को रोग कहते हैं तो उन व्याधियोंके स्थानपर आत्मामें हैं इन्द्रियविषय, तो इन्द्रियविषय ही वास्तवमें रोग है, ये बाधाके कारण हैं अन्यथा कैसा सहज परम आनन्दधाम है यह आत्मा जिसको किसी भी प्रकारकी कोई अड़चन न रहे, ऐसे आनन्दधाम आत्माकी बाधा कितनी विचित्र हो रही है कि हम उस आनन्दको निरख भी नहीं सकते, वहाँ लग भी नहीं सकते। यद्यपि ये सारे प्रसंग, बाह्य उपयोग ये सब असार हैं, इनमें रंचमात्र भी सार नहीं है। पर कैसी कठिन वेदना है भीतर आत्माकी वेदनामें कैसी पीड़ा उत्पन्न होती है, आत्मामें विषय कषायोंकी कि उस पीड़ाके कारण यह अपने आनन्दधाममें स्थित नहीं हो सकता तो जानना चाहिए कि व्याधि तो आत्मामे है। तो इन्द्रियके विषयोंकी अभिलाषा और इसीके कारण होने वाले अन्य जीवोंसे रागद्वेष तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें, वास्तवमें इस जीवको ये रोग लगे हुए हैं, और जैसे शरीरमें दोष बताये जाते हैं कि वातका प्रकोप हो गया, पित्त, कफका प्रकोप हो गया, उनमें दो दोष प्रकुप्त हो गए अथवा तीन दोष प्रकुप्त हो गए, और नाम रखा सन्निधान। तो यहाँ देखो—इन औदयिक भावोंमें एक-एक भाव करके बताये, तो अलग-अलग रूप हुये और दो-दो करके बतायें, तीन-तीन करके बतायें तो वे सन्निपात हो गए। जैसे शरीरमें सन्निपातके रोग हैं, ऐसे ही आत्मामें सन्निपातके रोग हो रहे हैं। ऐसा रोग जो एक मात्र औषधिसे दूर होता है। रोग हैं अनेक, पर इनकी दवा है एक। शरीर व्याधियोंमें रोग अनेक हैं तो दवायें भी अनेक हैं, लेकिन यहाँ तो दवा है एक और वह एक दवा क्या है कि अपना जो सहज स्वभाव है, ज्योतिःस्वरूप है याने कुछ मेहनत न करे, श्रम न करे, विकल्प न करे, झगड़ा न करे, उपयोग बाहर भ्रमाये, सहज ही अपने आप जो मेरे में हो सो हो, इस तरहके आग्रहसे जो अपने अन्तस्तत्त्वका आश्रय करे तो वह एक दवा है, इन समस्त रोगोंको दूर करनेकी। जो क्रोध, मान, माया, लोभके सन्निपातोंसे एक बहुत बड़ी विषम स्थिति बन रही है, वह सब एक इस चैतन्यस्वभावके आश्रयके अमृतपानसे दूर हो जाती है। तो व्याधिके स्थान ये विषयकषायोंके रोग हैं, इनमें सम्यग्दृष्टि जीवके आदर नहीं रहता, इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय रहता है।

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत्।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमताऽऽत्मनः ॥५३१॥

अत्राणभयका स्वरूप—अब अत्राणभयका स्वरूप बता रहे हैं। त्राण मायने रक्षा, और अत्राण मायने अरक्षा। इसका सीधा अर्थ यह है कि अपनी रक्षा नहीं है, इस अरक्षाके कारण। इस अरक्षाका विकल्प करके जो भय बना रहता है उसका नाम है अरक्षाभय। इसको पहिले दार्शनिक दृष्टिसे कह रहे हैं। अरक्षाभय तो तब होता है कि मेरी रक्षा नहीं है। अच्छा, नहीं है रक्षा तो नाश हो जायगा मेरा। तो अपने नाशकी सम्भावना जिसमें

http://sahjanandvarnishastra.org/

गर्भित है ऐसा अत्राणका भय करना सो अत्राणभय है। जैसे क्षणिकवादियोंके यहाँ माना गया है कि चित्त क्षण याने एक एक क्षणमें चित्त क्षण होते हैं। तो जिस क्षणमें चित्त हो वह दूसरे क्षण भी नहीं प्राप्त हो सकता। तो बहुत डरे, निरन्तर डरे। अरे तो क्षणिकवादी डरें, यहाँ डरनेका क्या काम ? तो क्षणिक एकान्तमें चित्तक्षण आदिक जैसे अत्राणी हुए हैं, तुरन्त नष्ट हुए हैं, उनके वचनोंमें कोई सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि उनका वह सिद्धान्त ही इस तरहका है कि वही क्षण आत्मलाभका है और वही आत्मनाशका है। दूसरे क्षण आत्मा ठहरता ही नहीं है ऐसा क्षणिक एकान्तसे वहाँ सम्मत क्यों हुआ ? उन्हें यह डर लगा कि अगर यह क्षण, यह चित्त दूसरे समय ठहर जायगा तो यह दूसरे समय ठहरना कौन रखेगा ? तीसरे चौथे समय नहीं ठहरा, इसपर किसका बल चलेगा ? फिर तो अनन्तकाल तक नित्य एकसा ही रहना पड़ेगा। इसलिए दूसरे क्षण भी नहीं ठहरा। इसलिए दो क्षणिक एकान्त पक्षमें जैसे चित्तक्षण अत्राण है, इसी तरह यहाँ लौकिक जन भी अपने आपको क्षणिकसा देखकर यह पर्याय नष्ट हो रही है, यह पर्याय नष्ट हो जायगी तो मूल कुछ न रहेगा। जैसे क्षणिक एकान्तमें यह बात आयी कि उस क्षणका वह चित्तक्षण, वह आत्मा नष्ट हो गया तो अब उसका मूल कुछ न रहा। उसका कोई अंश रहा ही नहीं है। तो जैसे क्षणिक एकान्तमें चित्तक्षणके व्यतीत होनेपर समूल नाश माना गया है तो यहाँ भी लौकिक जन पर्यायोंके नाश होनेपर अपना समूल नाश मान बैठते हैं, इस कारण इनके अत्राणभय कहलाता है। हो क्या रहा है यहाँ कि आयु धीरे-धीरे खिर रही है। तो आयुके अंशोंका ही तो नाश हो रहा है। उस अंशनाशको देखकर इसको यह भय हो गया कि मेरी कोई रक्षा करने वाला ही नहीं है। किसी दिन तो मेरा पूर्ण नाश हो जायगा। मरणभयमें और अरक्षाभयमें क्या अन्तर है ? मरणभयमें तो एक उस मरणको ही लक्ष्यमें लेकर भय कर रहा है और यहाँ अरक्षा है उसका यहाँ नाश हो रहा है, यह खिर रही है। नाश हो रहा है, इसपर लक्ष्य देकरके उसको विनाशका भय लगा हुआ है। तो इसके लक्ष्यमें है अंशनाश और मरणभयमें है सर्वनाश तो यहाँ जो अंशनाश दिख रहा है तो उससे यह अपनेको रक्षित भी नहीं कर सकता। अंशनाश तो होगा ही। जैसे छिद्र वाली अंजुलीमें जल है तो वह जल बूंद-बूंद करके खिरेगा ही, इसी तरह जब अंशनाश हो रहा है तो वह तो होगा ही। जो-जो अंश दूर हो रहा है उसको यह रक्षा करनेमें भी समर्थ नहीं है यह मिथ्यादृष्टि जीव। उससे निरन्तर भय और बनाये हुए है। इस तरह जीवोंको अत्राण भय निरन्तर सताये जा रहा है, परसम्यग्दृष्टि जीवको अत्राणभय नहीं रहता है, इसका वर्णन स्वयं आगेके श्लोकमें करेंगे। अब यह दिख रहा है कि अत्राणभयके सम्बंधमें अज्ञानी जीवोंके क्या विचार रहते हैं जिससे कि वह निरन्तर भयशील रहता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ।।५३२।।

मिथ्यादृष्टिकी पर्यायनाशमें आत्मविनाशमान्यता—यह अज्ञानी जीव देख तो रहा है कि यह शरीर तो क्षीण होता जा रहा है, यह परख तो रहा ही है कि लोग अचानक मरणको प्राप्त हो जाते हैं तो इस तरहके निरखनेसे इस जीवको अन्तर्वेदना होती है। इसे यह भ्रम हो गया है कि ऐसे इस अंशनाशसे तो मेरे इस अंशका नाश ही हो जायगा। मेरा सर्वस्व नाश हो जायगा। तो मिथ्यादृष्टि यों समझ रहा है कि यह धीरे-धीरे आत्माकी पर्यायोंका जो नाश हो रहा है उससे तो मेरा कभी पूरा ही नाश हो जाता है। तो इसको पर्यायके नाशसे इस पर्यायवानके ही नाशका डर लग गया है। जैसे संतानके नाशका भी भय हो गया है ऐसा भय मिथ्यादृष्टिको पहिलेसे ही होता है। नाश हो गया, जब होगा तब होगा। आत्माका नाश तो होता नहीं। यह एक भ्रम लग गया है कि पर्याय नष्ट होनेसे आत्मा नष्ट हो जायगा। और जिस किसी भी कल्पनासे आत्माका नाश माना है तो वह भी जब होगा तब, लेकिन यह भय कर रहा है अभीसे। भय होता है विपत्ति आनेसे पहिले और विपत्ति आनेपर भय नहीं रहता। अगर विपत्ति सामने आनेपर भी भय है तो किसी दूसरी विपत्तिका ख्याल रख करके भय है। उस समय तो वह उसके मुकाबलेमें जुट जाता है। भय पहिले ही हुआ करता है। तो अंशनाश देख करके अंशनाशका भ्रम करना, यह भय इसने पहिले ही बना रखा है। यों मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्वकर्मके उदयके कारण ऐसा भय बना रहता है। इस सम्यग्दृष्टिको यह भय नहीं रहता।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ।।५३३।।

यथार्थस्वरूपकी अमान्यताके कारण मिथ्यादृष्टिकी सदा भयशीलता—अब इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि वास्तविकता तो यह है पर्यायका नाश होनेपर भी आत्मसत्ताकी शृंखला तो बनी ही रहेगी और यों अपने आपकी उस सत्त्वमें दृष्टि करना शरण है, लेकिन मूर्ख मिथ्यादृष्टि ऐसा तो नहीं मान रहा है, इस कारण आत्मरक्षा कैसे हो ? इस भयसे वह सदा दुःखी रहता है। आत्माकी ध्रुवताका जिन्हें भान नहीं है वे अपनेको अध्रुव, अरक्षित जानकर निरन्तर भयशील होते हैं। अब इस अन्तर्भयमें और कदाचित् बाहरी प्रसंगोंके कारण होने वाले भयमें कितना महान अन्तर है ? यह भय सम्यग्दृष्टिके नहीं होता। यद्यपि भय संज्ञा अष्टम गुणस्थान तक है और भयरूप प्रवृत्ति व्यवहार भी छठे गुणस्थान तक हो रहा है। जहाँ इसके प्रमाद है, लेकिन यह भय एक मूल भय है, बाह्य भय है, कर्मविपाकवश होने वाला तात्विक अंश है। इसमें सम्यग्दृष्टि जीवको भीतरमें शल्य नहीं होता है कि मैं ही नष्ट

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो जाऊँगा। एक थोड़ी सुविधा या कुछ धर्मसाधनासे सम्बंधित बातमें बाधा आदिकका भले ही भय हो जाय, लेकिन मैं ही नष्ट हो जाऊँगा, इस प्रकारकी शङ्का सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होती है, अतएव सम्यग्दृष्टि निःशंक है; पर मिथ्यादृष्टिको आत्मसत्ताका भान न होनेसे वह निरन्तर भयशील बना रहता है।

सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं नष्टे चिदात्मनि।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ॥५३४॥

पर्यायापेक्षया नाश समझने वाले ध्रुवचिदात्मज्ञ ज्ञानीके भयका अभाव—मिथ्यादृष्टि जीवने पर्यायके नाशसे अपना नाश समझकर अपनेको अत्राण भयसे भीर बना लिया था, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव जो आत्माको पर्यायदृष्टिसे नष्ट होना मान रहा है अर्थात् आत्मामें पर्याय रूपमें न रहना, पर्यायका विध्वंस मान रहा है, फिर भी वह अत्राणभयसे लिप्त नहीं है, वह निर्भीक है अर्थात् आत्माको नाश होना देखकर भी पर्यायतः वह जान रहा है कि अब यह नहीं रहा, तिसपर भी उससे डरता है। जिसको पर्यायमें आत्मबुद्धि नहीं है वह पर्यायके नष्ट होनेपर भी अपनेको नष्ट हुआ नहीं मान पाता। इसी कारण वह निर्भीक रहता है। अत्राणकी भी बात सुनो। अत्राणका अर्थ है अरक्षा, मेरी रक्षा न होना। तो जब मैं सत् हूं, स्वरूपतः सत् हूं तो मैं अरक्षित हूं कहाँ? क्या कोई सत् कभी असत् बन सकता है? जो बात है वह मूलतः कैसे हो जाय? कुछ द्रव्य ऐसे मालूम होते हैं जैसे कपूर आदिक। लोग कहते हैं कि कपूर उड़ गया, नष्ट हो गया तो कहाँ नष्ट हो गया? उसके छोटे-छोटे स्कंध सब यहाँ-वहां बिखर गए। उनका मूलतः नाश नहीं हो सकता। मैं आत्मा सत् हूं तो सत् ही हूं। इसका नाश कैसे हो सकता है? तब इसकी अरक्षा है कहाँ? कौन इसको बिगाड़ सकेगा? आत्मा को बिगाड़ने वाला यह स्वयं आत्मा है। अपना शुद्ध सहज चैतन्यस्वभाव आलम्बनमें नहीं रह पाता है और इससे चिगकर जब बाहरमें दृष्टि लगाता है तो इसको बाहरमें सारी आपत्तियाँ नजर आती हैं, और उनको आत्मसात् कर लेता है। वस्तुतः न बाहरसे कोई मेरी रक्षा कर सकता है, ऐसा उसे अपने द्रव्यस्वरूपमें आत्मत्वका परिचय है, इस कारण वह निडर रहता है। सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवने उस ज्ञानसामान्य सहज भावको 'यह मैं हूं' ऐसा मान लेता है। इस कारण उसको डरका प्रसंग नहीं है।

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः।
नाऽत्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः ॥५३५॥

आत्माकी अत्राणरहितताका वर्णन—स्वरूप भी ऐसा है कि द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे रंचमात्र भी अत्राण नहीं है अर्थात् नाश नहीं होता। न इसकी गुण पर्यायमें से कोई मिट जायगा। सदा वे शक्तियाँ हैं, सदा उनका परिणमन है। न क्षेत्रसे यहाँ कोई बिगाड़

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आ जायगा कि प्रदेश न रहे, न कालका कोई बिगाड़ आता है। कोई परिणति बिगाड़ ले, और न गुणोंमें भावमें कोई बिगाड़ आता है। आत्मा जो बिगाड़ करता है सो अपने भाव बिगाड़कर करता है, वही उसके कालका बिगाड़ है। और चूंकि गुणपर्यायात्मक ही तो आत्मा है तो पर्यायोंका बिगाड़ है सो ही प्रदेशोंका बिगाड़ है, और यही द्रव्यका बिगाड़ है। तो जो कुछ इसमें बिगाड़ हुआ है वह अपने आपके भावों द्वारा हुआ है। किसी अन्य पदार्थके द्वारा त्रिकाल भी बिगाड़ नहीं हो सकता। भले ही बिगाड़में कर्मप्रकृतिका उदय निमित्त है **और ऐसा निमित्त है** कि अन्वयव्यतिरेकका प्रबल सम्बन्ध भी बना हुआ है, इतनेपर भी कर्म का और जीवमें अत्यन्ताभाव है। अर्थात् एक दूसरा स्वरूप त्रिकाल भी नहीं हो सकता है। तब कर्मने यहाँ कुछ बिगाड़ नहीं किया, किन्तु कर्मोदयके समय यह जीव खुद ही स्वरूपसे चिगता हुआ अपना बिगाड़ कर लेता है। जैसे कोई बालक २० हाथ दूर खड़ा हुआ किसी दूसरे बालकको चिढ़ा रहा है तो वह दूसरा बालक चिढ़ रहा है, नाराज हो रहा है, दुःखी हो रहा है। तो कहीं उस चिढ़ाने वाले बालकके कारण नहीं हो रहा है, किन्तु यह स्वयं ही अपने में अर्थ लगा-लगाकर दुःखी हो रहा है। मुझे उसने यों कह दिया। अपने आपमें अपनी कल्पनासे वह दुःखी होता है। तो इस आत्माका अत्राणभयका कोई अवसर नहीं, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमें चिन्तन रखता है। इस तरह विवक्षित अंगके सप्तभय रहितताके प्रकरणमें अत्राणभयका वर्णन किया गया।

दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिः यस्यचैकान्तवादिनी।
तस्यैवागुप्ति भीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥५३६॥

दर्शनमोहके उदयसे एकान्तवादिनी बुद्धिके स्वामीके अगुप्तिभयका कथन—दर्शनमोहनीयके उदय जिनकी बुद्धि एकान्तकी ओर झुक गई है उसीके अगुप्तिभय होता है। अगुप्तिभय का अर्थ है कि उसकी रक्षाके प्रबल साधन नहीं हैं। किला आदिक ऐसे रक्षाके साधन न निरख करके जो निरन्तर भयभीत होता है—क्या होगा? कोई शत्रु आक्रमण कर देगा? आदिक जो भीतर भयके भाव हैं उसे अगुप्तिभय कहते हैं। राजाका किला मजबूत नहीं है उसका भय है तो गृहस्थोंको घर भी मजबूत नहीं हैं उसका भय है और लोग जो कुछ भी अपनी रक्षाका साधन समझा हो उसमें कमी हो तो उसके भय नहीं है। इस तरह रक्षाके साधनके न होनेसे जो अन्तःभय होता है उसे अगुप्तिभय कहते हैं। तो मिथ्यादृष्टि जीवके अगुप्तिभय बना हुआ है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहका उदय न होनेसे अगुप्तिभय नहीं रहता। कल्याणके लिए बड़े साहसके साथ ऐसे अन्तरमें उतरना होता है कि जहाँ यही मात्र अनुभवमें रहे कि मेरी रक्षाका साधन भी मैं ही हूँ। मैं स्वयं रक्षित हूं, क्योंकि बाहरमें कुछ भी विडम्बना होनेपर इसमें बाहरसे कोई क्षति नहीं हो पाती। मैं तो अपने स्वरूपके किलेमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बसा हुआ हूं। यहां किसी बाह्यका आक्रमण सम्भव ही नहीं है, ऐसा अपने आपको बड़ा गुप्त देखता है, स्वरक्षित देखता है। मेरी रक्षाका साधन मेरा यह स्वरूप सत्त्व ही है। मेरे स्वरूप सत्त्वके कारण इस दृढ़ किलेमें मैं बस रहा हूं तो किसी भी शत्रुका क्या आक्रमण होगा ? ऐसे अपने आपको बड़े दृढ़तम विशुद्ध स्वरूपको निरखना है।

असज्जन्म सतोनाशं मन्यमानस्य देहिनः।
कोवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥५३७॥

असदुत्पाद व सद्विनाश मानने वालेके अगुप्तिभयसे छुटकाराकी असंभवता—जो प्राणी असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति मानता है और सत् पदार्थोंका विनाश मानता है और फिर अगुप्ति भयसे छूटना चाहता है तो ऐसा पुरुष अगुप्तिभयसे कैसे मुक्त हो सकता है ? इन दोनों ही बातोंमें अगुप्ति भय बना हुआ है। जिन लोगोंने माना है कि असत् पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं तो मुझमें जो बात सम्भव नहीं है, असत् है वह भी बात यदि हो तो उसके अस्वित्वको तो सदा खतरा ही है और सत् पदार्थका यदि नाश माना जाता है तो यह मैं सत् हूं, और उसका भी नाश हो गया तो इसमें मेरा अस्तित्व ही न रहेगा। हाँ यदि ऐसा सोचले कोई कि मैं बिल्कुल हूं ही नहीं, असत् हो जाऊँ तो यदि कोई विवेकी है तो इसमें तो वह प्रसन्नता अनुभव करेगा। मैं कुछ भी न रहा, फिर विडम्बना किसको, सुख, दुःख, कर्म बन्धन आदिक सारी बातें किसको ? किन्तु ऐसा कैसे हो सकता कि मैं कुछ भी न होऊँ। जो सत् है उसका कभी नाश ही नहीं होता। मैं हूं और अनन्तकाल तक रहूंगा तो अब मुझे किस स्थितिमें रहना चाहिए कि जिससे मेरेको समता हो, शान्ति हो, आनन्द हो, शुद्धता बढ़े ऐसी स्थिति बनाना चाहिए, यह तो विवेक करना ही होगा। जितने प्रसंग आते हैं कोई बाह्य वातावरणके तो उन प्रसंगोंमें कौन जूझ कर सकता ? ज्ञानी पुरुषकी यह वृत्ति होती है कि प्रयोजनवश या थोड़ा वेगवश कुछ भी बात बन जाय तो वह चिरकाल तक उसमें बुद्धियों को नहीं फंसाता। बहुत ही शीघ्र उस विकल्पबुद्धिसे हटकर निर्विकल्प चित्प्रकाशमें अपनेको ले जाता है। तो ऐसे इस गुप्त स्वरक्षित अन्तस्तत्त्वकी उपासना करने वाले सम्यग्दृष्टि जनोंको भय कहाँसे हो सकता है ? लेकिन जिसमें असत्की उत्पत्ति माना, सत्का विनाश माना और ऐसे ही ख्यालके प्रायः लोग हैं ही तो उनको अगुप्तिभयसे छुटकारा किसी भी प्रकार नहीं मिल पाता।

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो वदन।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसंभवात् ॥५३८॥

गुप्त स्वरूपकी प्रतीति वाले ज्ञानीके अगुप्तिभयकी अनुपपत्ति—सम्यग्दृष्टि पुरुष तो वस्तु के स्वरूपको निश्चय रीतिसे रक्षित ही मानता है, और वह भयके कारणको असम्भव ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मानता है। प्रत्येक पदार्थ है और वह निरन्तर उत्पादव्ययध्रौव्य रूप है, यह है प्रत्येक पदार्थ का अलौकिक इतिहास। अब इस तरह जब सभी पदार्थ हैं तो वे हैं और सदा परिणमते रहेंगे। उनका विनाश किस प्रकार सम्भव है? मैं भी आत्मा हूं, हूं चैतन्यस्वरूप और अमूर्त हूं, तो चित्प्रतिभास अमूर्त यह आत्मा किसीके द्वारा प्रतिघातयुक्त नहीं हो सकता। मेरेमें कौन आघात करेगा? किस मूर्त या अमूर्त पदार्थमें सामर्थ्य है कि मेरे इस अमूर्त चित्प्रकाशमें आघात कर सके? लेकिन ऐसी अद्भुत बात है कि इस अमूर्त आत्मामें कौनसी विचित्र ऐसी तरंग है कि यह अपने आपका बड़ा आघात पहुंचाया करती है? अपने आपमें सिद्ध हो गया, अपनेको बड़े आघात वाला बना लिया। ऐसी कौनसी विलक्षण तरंग है, भीतर क्यों उठता, कैसे उठे, उसका रूपक क्या है आदि सभी बातें ऐसी विलक्षण हैं कि जिससे ये संसारी जीव परेशान हैं, लेकिन इस परेशानीसे घबड़ाहटकी बात बिल्कुल नहीं है। जिसने अपने आपके अमूर्त चित्प्रकाशका निर्णय किया है और दृढ़तासे कैसा ही अपने आपको ढाल चुका है, एक निर्णय बना लिया है। मेरेको तो बस यह ही जीवनमें करना है। ऐसा जिसका दृढ़तम निर्णय हो उसको प्रतिघातकी फिर सम्भावना नहीं है, ऐसे चिन्तनसे अपनेमें अपनेको दृढ़तम अनुभव करें। करने वाला यह सम्यग्दृष्टि अगुप्तिभयसे विपरीत नहीं होता।

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥५३६॥

पञ्च इन्द्रियें तीन बल, आयु व श्वासोच्छ्वास प्राणके प्रत्ययरूप मृत्युभयका निर्देश—अब मृत्युभयका स्वरूप बताया जा रहा है कि जिससे यह पहिचाना जा सकेगा कि ऐसा मृत्युभय सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता है। प्राणोंके नाश होनेका नाम मृत्यु है। वे प्राण १० प्रकार के होते हैं—कायबल, वचनबल और मनोबल, ५ इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु। इस तरह इन दस प्राणोंमें यथासम्भव प्राप्त हुए प्राणोंसे यह जीव जीवित रहता है। और इन दस प्राणोंके वियोगसे मरण होता है। इन दस प्राणोंमें जो इन्द्रियप्राण कहा गया है वह भावेन्द्रियरूप प्राण है, जो द्रव्येन्द्रिय रूप प्राण है वह कायमें ही शामिल है। कायबलके साथ उनका सम्बन्ध है, और वह यहाँ मुख्य नहीं माना गया। तो ५ इन्द्रिय भावप्राण हैं। तब ही तो सयोगकेवलीमें ५ इन्द्रियप्राण नहीं होते। कायबल, वचनबल, मनोबल, इनमेंसे भी मनोबलका सम्बंध भावमनके साथ है। तब ही मनोबल भी सयोगकेवली भगवानके नहीं होता। द्रव्यमन यद्यपि है तो भी उस द्रव्यमनके कारण मनोबल नहीं बताया गया। कायबल, वचनबल तो स्पष्ट चीज है। जहाँ तक शरीर है, यह शरीरका बल है, कायबल है, लेकिन अयोगकेवली अवस्थामें भय होनेपर भी कायबल नहीं है। क्या है? जिससे और उन प्रकृतियोंके उदय विभागसे जिन प्रकृतियोंका नाश हो गया है उनकी अपेक्षासे यह सिद्ध होता

http://sahjanandvarnishastra.org/

है कि वे प्रभु शरीरमें भले ही रह रहे हैं, लेकिन उस तरहसे रह रहे हैं जैसे सीसीमें पारा रखा हुआ हो। जो लघु अन्तर्मुहूर्तमें ही इस शरीरको त्यागकर मुक्त होंगे और सदाके लिए अशरीर रहेंगे तो ऐसा होनेके लिए जो निकट पहिली स्थिति होनी चाहिए वह एक अद्भुत स्थिति होती है। जैसे कोई अफसर कहींसे चार्ज ले रहा है तो उस समयकी स्थिति कैसी विचित्र होती है ? जो चार्ज ले रहा है अधिकार तो अभी उसका है। लेकिन जो चार्ज ले रहा है उसका जो आकर्षण रहता है कर्मचारियोंका, लोगोंका और उस समयमें उसके विलगाव और नये अफसरका लगाव—इन दोनोंका जो एक प्रकारका घटना संघर्ष है वह एक विचित्र होता है। तो जहाँ संसारका तो सदाके लिए विनाश होता है और मोक्षका जहाँसे अब प्रारम्भ हो रहा है सर्वथामोक्ष, उस समयकी घटना, उस समयका प्रभाव आत्मापर कैसे पड़ता है ? सो अयोगकेवलीके किन-किन प्रकृतियोंका उदय नहीं है, किनका सत्त्व नहीं है, इसपर दृष्टि देनेसे एक चित्रण आ जाता है। तो १० प्राणोंमें से संसारअवस्थामें तो ये इन्द्रियप्राण कभी छूटते नहीं। जब तक यह जीव छद्मस्थ है तब तक इन्द्रियप्राणोंका वियोग नहीं होता। शरीर नष्ट हो गया, विग्रहगतिमें है तब भी इन्द्रियप्राण लिए है, और कायबल भी नष्ट नहीं होता, वचनबल अपर्याप्त अवस्थामें ही होता, मनोबल भी पर्याप्त होता, श्वासोच्छ्वास आयु भी सदा लगा रहता है तो इन १० प्राणोंका वियोग हो जाय उसका नाम मरण बताया गया है। इन प्राणोंका सम्बन्ध करके मिथ्यादृष्टि जीव किस तरहसे भय मानता है, ऐसा बतला रहे हैं।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्माभून्मे मरणं क्वचित्।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥५४०॥

मृत्युभयमें "मेरी जिन्दगी रहे, कभी मरण न हो" इत्यादि आधियोंकी पीड़ा—मिथ्यादृष्टि जीवके मरणभयके सम्बन्धमें ऐसा चिन्तन चलता रहता है कि मैं जीता रहूं, मेरा कभी मरण न हो अथवा देवयोगसे कभी मैं मर न जाऊँ, यह पीड़ा मिथ्यादृष्टि जीवके निरन्तर बनी रहती है। सब भयोंमें मरणभय बड़ा भय माना गया है। और जिसने मरणभयको जीत लिया उसीको अमर कह लीजिए। जो अपनेको अमर अनुभव करता हो उसीने मरणभयको जीता, यों समझियेगा। अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान जो स्वतंत्र स्वतःसिद्ध निर्बाध अप्रतिघाद, जिसमें कोई कुछ कर ही नहीं सकता, ऐसे अपने स्वरूपको 'यह मैं हूं,' ऐसा जिसने माना और इसके अलावा मेरा भी किसी दूसरेसे क्या प्रयोजन पड़ा है ? ऐसा जिसका दृढ़ निर्णय है ऐसा पुरुष ही अमर कहलाता है। उनके मरणभय नहीं होता, किन्तु जिसने इस आत्माके अमर स्वरूपको तो तका नहीं तो बाह्यमें पर्यायकी बुद्धि होनेसे जैसे इहलोकभय, परलोकभय आदिक अनेक भय लगा रखे थे उसी तरह इसने मरणभय भी लगा रखा है। मैं कभी मर न जाऊँ, सदा जिन्दा रहूं, जो बूढ़े लोग ऐसा रोज-रोज कहते हों कि हे भगवन,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मुझे उठा ले, मेरी पुकार सुन ले, (उनकी ऐसी ही श्रद्धा रहती है कि कोई भगवान है वह मुझे मारता रहता है) तो जो इस तरह पुकारते हैं उनके भी मरणभय है। अभी कोई वैसी घटना सामने आ जाय तो पता पड़ जायगा कि उसके मरणभय है कि नहीं। जैसे कोई एक बुढ़िया रोज-रोज भगवानसे प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान ! मुझे उठा ले, मुझे इन नाती-पोतोंने बहुत हैरान कर डाला है····, अब एक दिन क्या घटना घटी कि उसके पास एक सर्प निकल आया तो वह चिल्लाने लगी, नाती-पोतोंको पुकारने लगी—अरे दौड़ो, सर्प निकल आया है, उससे मुझे बचाओ। तो वे नाती-पोते कहते हैं कि अरी दादी, तू रोज-रोज भगवान से प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान ! मुझे उठा ले, तो आज भगवानने तेरी प्रार्थनाको सुनकर तुझे उठानेके लिए इस सर्पको भेजा है, तू क्यों डरती है ?····तो देखिये—कोई कितना ही कहे कि मेरा मरण हो जाय, पर ये कोई जीव (तिर्यञ्च, मनुष्य, देव) मरणको नहीं चाहते। भले ही नारकियोंको इतना तीव्र पापका उदय है कि वे चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ। अब अंदाज करो कि जो अन्दरसे चाहता है कि मैं मर जाऊँ उसको कितना कष्ट होता है ? तो सबसे अधिक भय है मरणका, और वह मरणभय पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टि जीवके निरन्तर बना रहता है। तब मृत्युभयका कौन स्वामी है ? इस बातको कहते हैं—

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम्।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥५४१॥

मिथ्यादृष्टिके मृत्युभयका स्वामित्व—निश्चयसे मृत्युभय उन ही जीवोंके होता है जो तत्त्वको नहीं पहिचानते। तो मिथ्यादृष्टिके ही मरणभय होता है। क्यों मरणभय है कि अपने भीतरी निज तत्त्वको तो पहिचाना नहीं कि मैं स्वयं स्वरक्षित हूं, अमर हूं, मेरा कभी व्यय ही नहीं होता। और देखो—बाहरमें साथ ही एक बातका और ध्यान करें कि मरणभयकी उत्पत्तिमें सहायता है यह वर्तमान रागद्वेषका परिचय। जब यह समझ रहे हैं कि मेरे इतना राग है, घरके लोग हैं ऐसा सब कुछ बना रखा है, समाजमें ऐसा कर रखा है और उस समय कोई मरणका प्रसंग जैसी घटना आये तो उसे इस बातसे भी अधिक मरणभय हो जाता है कि यह सब छूट जाता है। प्राण छूटें सो छूटें, मगर यह घर भी छूटा, ये लोग भी छूटे तो यह मरणभय है और भी सहायक होता है। तो जिसे मरणभय न चाहिए। जिसे निःशंक अवस्था चाहिये अथवा आत्मतृप्ति चाहिए उनका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि सबसे निराले चिदानन्द स्वरूप निज आत्मतत्त्वको यही मैं हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, ऐसा स्वीकार नहीं किया। स्वीकारका अर्थ है कि स्व बनाना। 'स्वं करोति इति स्वीकारः' आत्माको स्व बना लेना, इसीको कहते हैं स्वीकार। तो आत्मतत्त्वज्ञ पुरुषके यह मरणभय निरन्तर रहता है, लेकिन जिसको आत्माके स्वरूपमें तृप्ति रहती है, जिसने आत्मस्वरूपमें अपने उपयोगको लगा रखा है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसे-ऐसे सम्यग्ज्ञानीको मृत्युभय कहाँसे हो सकता है ? सम्यग्दृष्टि जीवको मृत्युभय नहीं है, इसका कारण बताते हैं।

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति: पश्यतः ॥५४२॥

आत्मोपजीविनी चेतनाको आत्मप्राण समझने वाले ज्ञानीके मृत्युभयका अभाव—जीवका प्राण तो चेतना है। जो वस्तुके अस्तित्वका आधारभूत हो उसे प्राण कहते हैं। जैसे अग्निका प्राण गर्मी है। यहाँ चेतनासम्बन्ध वाले प्राणकी बात नहीं कहा। यहाँ वस्तुस्वरूप वाली बात कह रहे हैं, अथवा काष्ठकी जान उसके भीतरका सार है। तो यह प्राण अगर निकल जाय तो वह चीज न रहेगी। जीवका प्राण है वास्तवमें चेतना। और वह प्राण है आत्माका उपजीवी गुण, सद्भावात्मक शाश्वत् सहजभाव। तो वह चेतना इस जीवके सदा रहती है। इसको निरखने वाले सम्यग्दृष्टि जीवके मृत्युभय कहाँसे उत्पन्न हो ? जिसने किसी भी बाह्य वस्तुमें मोह रागद्वेषका लपेट रखा हो, भय उसीको ही होगा और जो सबसे निराले अपने आपके चैतन्यस्वरूपको स्व माना जा रहा है उसे किसी भी चेतनाका भय नहीं होता। मरणभय उसके लिया गया है। मरण भी उसको ज्ञेय हो जाता। यहाँ न बैठे चलो वहाँ बैठ गए, क्या हर्ज है ? जैसे संसारमें ऐसी रिजर्वेशन सीट मिल जाय और कोई कहे कि यहाँ हम बैठे थे, आप बैठ जाइये तो वह वहाँ बड़ी खुशीसे उठकर बैठ जाता है। खुश यों हुआ कि उसकी समझमें यह था कि यहाँसे उठ गए तो दूसरेकी सीट मिली या नहीं, लेकिन जो उठने वाला है वह बता दे कि यहाँ बैठ जाओ तो वह बड़ी प्रसन्नतासे बैठ जाता है। तो जैसे आयु ने यहाँ धक्का दिया कि तुम यहाँसे उठ जाओ तो साथ ही यह बताया भी जा रहा कि तुम्हारे लिए यह सीट है। नहीं तो उलझन उसके थी कि यह तो हटा दिया और दूसरी सीट न दी, एक आयुने सीटको हटा दिया और तत्काल ही दूसरे आयुने उसे सीट दे दिया तो उसे दूसरी सीटमें बैठनेमें खेद क्यों ? सम्यग्दृष्टि जीव चेतनाको प्राण मानता है, और उनको समझता है कि सीट बदलती है। उसको मरणका भय नहीं होता है। तो आत्माके यथार्थस्वरूपको निरखनेके कारण इस सम्यग्दृष्टिको मृत्युका भय नहीं है, वह अपनी मृत्यु मानता ही नहीं है, फिर भय कहाँसे उत्पन्न हो ? इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके ८ अङ्गोंके वर्णनमें प्रथम अङ्गके प्रसंग में जो भयोंका वर्णन चल रहा था उसमें यह मृत्युभयका प्रसंग चल रहा है।

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥५४३॥

अकस्मात् जात भयका लक्षण—निःशंकित अङ्गके वर्णनके प्रसंगमें ७ भयोंका वर्णन चल रहा है। उसमें आकस्मिकभय नामका अन्तिम भय यह बताया जा रहा है। आकस्मिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

याने अकस्मात् बिना कुछ लक्षणोंके, बिना कुछ चिह्नोंके जो अकस्मात् ही भय आता है उसे कहते हैं आकस्मिकभय। प्रथम तो यह देखो कि आकस्मिकभयका अर्थ ही यह बतला रहा है कि नकस्मादभय, याने किसीसे भय नहीं। अर्थमें तो यह पड़ा हुआ है और जिसका रूप पड़ा हुआ है आकस्मिक। तो आकस्मिकभयका रूप अब समझिये कि जो अचानक बात आ जाती है उसे आकस्मिकभय होता है। अथवा आकस्मिकभयका यह अर्थ लगाओ कि कहाँ भय, यह निर्णय ही जहाँ नहीं पड़ा हुआ है और भय बना हुआ है। जितना भय करना चाहिए वह चीज सामने न थी, उसका कोई सम्बन्ध नहीं, प्रसंग नहीं, ऐसी कुछ भी चीज नहीं है, फिर भी भय लगा हुआ है उसे कहते हैं आकस्मिकभय। जैसे कहीं बिजली न गिर जाय। कभी देखा होगा कि आसमानमें बादल तो बहुत कम दिखते हैं, मगर बारिश हो जाती है, तो ऐसे ही किसी समय बादल तो न हों और कोई सोचे कि कहीं ऐसा न हो कि ओले पड़ जायें, तेज बारिश हो जाय,....यह है आकस्मिकभय। एक कथानक है कि एक कोई क्षत्रिय बन्दूक लिए बैठा था और उसके पास एक बनिया भी बैठा था। सो बन्दूकका कुन्दा तो था बनियाकी ओर और नली थी दूसरी ओर, पर उस समय वह बनिया कहने लगा—भाई! तुम इस बन्दूकको अलग धर दो, तो वह क्षत्रिय बोला—अरे तुम क्यों डरते हो? इसकी नली तो दूसरी ओरको है। तो वह कहता है कि देखो—नलीसे तो हजारों बार गोली निकलती है, पर कहीं ऐसा न हो कि एक बार इस कुन्देसे ही गोली निकल पड़े, इससे मुझे भय है। कहीं इस कुन्देमें से गोली निकल पड़ी तब तो मेरी जान चली जायगी।....तो देखिये बात कहीं कुछ नहीं है, कारण नहीं है, फिर भी भय बना हुआ है, तो यह कहलाता है आकस्मिकभय। तो बिजली आदिक गिरनेसे प्राणोंका नाश होता, ऐसी मनमें कल्पनायें करके कहीं मेरे ऊपर बिजली न गिर जाय और कहीं मेरा मरण न हो जाय, इस प्रकारके भयका नाम आकस्मिकभय है। ऐसा भय मिथ्यादृष्टि जीवोंके होता है।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥५४४॥

मिथ्यादृष्टिके आकस्मिक भयकी पीड़ा—आकस्मिकभय कहाँ इस प्रकार होता है कि सदा मैं स्वस्थ बना रहूं। मेरेको कभी अस्वस्थता न हो, किसी समय मेरे रोग न हो जाय। दूसरे रागद्वेषको छोड़कर यह कल्पना उठ जाय कि मुझे ऐसा हो गया तो उस कल्पनाको परखकर भीतरमें भय उत्पन्न करना, ये बातें सम्यग्दृष्टिके कहाँ सम्भव हैं? जिनको पर्यायबुद्धि है, देहमें आत्मीयताका स्वीकार है, ऐसे जन ही आकस्मिकभयके शिकार बने हुए हैं। तो मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायबुद्धि होनेसे निरन्तर आकुलित चित्त रहता है, उसके मानसिक चिन्तायें बनी रहती हैं और आकस्मिकभय होता है। यह आकस्मिकभय पूर्वमें कहे हुए ६

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भयोंमें प्रविष्ट है। इहलोकभय, परलोकभय आदिक जितने भी बताये गए हैं, उनके साथ आकस्मिकभय भी जुड़ा हुआ है। उस ही में और विशिष्ट कल्पना हो जाती है कि कहीं ऐसा न हो बैठे। तो मैं सदा स्वस्थ रहूं, मेरेको अस्वस्थता कभी न हो। इस प्रकारकी निरन्तर मानसिक चिन्ता बनी रहना, यह आकस्मिकभय कहलाता है।

अर्थदाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेनिर्भीकैकपदच्युतेः ॥५४५॥

निर्भीकस्वात्मपदसे च्युत मिथ्यादृष्टिके भयमुक्तिका अभाव— आकस्मिकभय मिथ्यादृष्टि को ही होता है, क्योंकि वह निर्भय पदसे च्युत है। आत्माका अंतस्तत्त्व जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, एक चेतना प्रकाशमय है, सद्भूत है, अनुभवमें आता है, ऐसा यह परमार्थ आत्मतत्त्व जिसकी दृष्टिमें नहीं है वह ही आकस्मिकभयसे पीड़ित होता है। यदि कोई दृढ़तासे अपने आपके परमशरण अन्तस्तत्त्वको ही ध्यानमें ले और मुझे जगतमें अन्य किसीसे प्रयोजन नहीं, ऐसे परिणमनसे जो अपने आपकी ओर झुकनेका वैशिष्ट होवे तो उसके लिए फिर क्या भय ? आकस्मिकभय तब होता है जब इस निर्भीक आत्मपदसे च्युत हो। और जो निर्भीक आत्मपदसे च्युत है उसको मुक्तिका मार्ग कैसे मिल सकता है ?

निर्भीकैकपदो जीवो स्यादनन्तोप्यनादिसात्।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥५४६॥

निर्भीकैकपदानुभवी सम्यग्दृष्टिके आकस्मिकभयकी अनुपपत्ति—अब अपने आपको ही देखिये—क्योंकि खुदको शान्त होना है। खुदपर खुदकी बड़ी जिम्मेदारी है। इस जगतमें कोई भी पत्नी हो, पति हो, पुत्र हो, धन वैभव आदिक हों, मित्र जन हों, ये कोई भी वास्तवमें इस जीवके लिए शरण नहीं हैं। यह जीव अपने उपयोगको सुधारे और अपने आपको एक सहज ज्योतिस्वरूप अनुभव करे, बाह्य पदार्थोंका लगाव इस तरह तोड़ दे जैसे कि अन्य अनेक पदार्थोंके लगावका ख्याल ही नहीं है। यद्यपि अन्य पदार्थोंके लगावका ख्याल तो नहीं है, लेकिन मिथ्यात्वकी वासना सबके बनी है। जिनके मिथ्यात्व है उनके सारे लोकका परिग्रह वासनामें लगा हुआ है, क्योंकि उनके मिलते जानेपर भी वे अघाते नहीं हैं। लखपति हों तो, करोड़पति हों तो, अरबपति हों तो, सम्पूर्ण राज्य मिला हो तो, तीनों लोकोंका राज्य मिला हो तो। तीनों लोकोंका राज्य मिल जाय, ऐसा तो असम्भव है, पर मान लो कदाचित् किसी को तीनों लोकोंका राज्य मिल जाय तो भी उसकी वासनामें यही बात बसी रहेगी कि अभी तो और कुछ मिलना चाहिए। जिसने एक इस सहज स्वरूपको पहिचाना है, ऐसा पुरुष ही इस अभयपदमें स्थित रह सकता है। तो यह पद अभय है, अविनाशी है, अनादिकालसे है। ऐसे इस अभयपदको जो जीव चाहते हैं उनको आकस्मिकभय कभी नहीं होता, क्योंकि ऐसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह जीव जो अनादिकालसे है, अनन्तकाल तक है, एक स्वरूप है, ऐसा जो ज्योतिस्वरूप है उस जीवमें भयका क्या अवकाश है ? भय तो यहाँ हो रहा है इस पर्यायी जीवके। जो वास्तविक जीवतत्त्व है, सहजस्वरूप है उसमें भयका क्या अवकाश ? तो जिसने उस अभय-स्वरूपको नही पहिचाना है और इस संतानवान जीवको ही माना कि यह मैं हूं, उसे पद-पद पर भय हुआ करता है। सम्यग्दृष्टि जीवको अपने आपका स्पष्ट रूपसे अनुभव हुआ है, इस कारण उसे जगतमें कहीं भी आकस्मिकभय नहीं उत्पन्न होता।

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥५४७॥

भोगाभिलाष व कर्मकर्मफलसात्म्यबुद्धि रूप कांक्षाका निर्देश—अब निःकांक्षित अंग का वर्णन किया जा रहा है। जो काम किया जाता है उनमें यह उद्देश्य बनाना कि मुझे परलोकमें भोगोंकी प्राप्ति हो। इसे स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा गया है कि धर्म करके भोगोंकी चाह करना, व्रत धारण करके भावी सुखकी चाह करना सो यह दोष है। यद्यपि दोष यहाँ भी है कि धर्मके एवजमें ऐसी चाह करना कि मेरेको भोगसाधन प्राप्त हों वह भी दोष है, लेकिन सामान्य स्थितिमें कोई साधनकी थोड़ी बहुत इच्छा जग जाय, ऐसी बात कदाचित् निम्न पदों में सम्यग्दृष्टिके भी बनती रहती है। जैसे कि गृहस्थ हैं, दूकानपर जाते हैं तो क्या थोड़ा बहुत भी चित्तमें नहीं आता कि दूकान चले ? इस कारण लक्षणमें जरा भी दोष न आये, ऐसा लक्षण बनाया है कि धर्मधारण करके भोगोंकी चाह न करना। जो धर्म करके भोगोंकी चाह करे उसके तो नियमसे मिथ्यात्व है। और साधारण रूपसे घरमें रहकर कोई चाह उत्पन्न हो गयी, उनमें विचार करना पड़ेगा। भीतर चाह इसकी है कि नहीं, क्योंकि दर्शनमोहका उदय न होनेसे ऐसी स्थिति भी होती है कि चाह तो नहीं है और चारित्रमोहके उदयमें चाह बनती है। तो ऐसे समयमें उसका सम्यग्दर्शनका दोष नहीं कहा गया है अथवा वह चाह ही नहीं है। इनका वर्णन पहिले भली-भाँति हो चुका है कि अभिलाषा और इच्छामें अन्तर है। अभिलाषा होती है दर्शनमोहके विपाकमें और इच्छा होती है चारित्रमोहके विपाकमें। एक शब्दभेद डाला है। जैसे चारित्रमोहके विपाकमें क्रोध उत्पन्न होता है और सम्यग्दृष्टि उस क्रोधको नहीं चाहता, ऐसे ही मान, माया उत्पन्न होती है उसे भी नहीं चाहता। ऐसा लक्ष्य भी होता है, इच्छा भी होती है, उसे भी वह नहीं चाहता। जैसे क्रोधादिक भाव हैं, ऐसे ही चारित्रमोहके विपाकमें इच्छा भाव है, मगर भीतरमें अभिलाषा रंचमात्र भी नहीं है। अपने ही को लक्ष्यमें लेकर बताया गया है कि परमाणु मात्र भी चीज राग है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है वह परमाणु मात्र राग यही है दर्शनमोहकृत। जिसे जरा भी भ्रम है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। तो यहाँ लक्षणमें बतला रहे हैं कि कांक्षाका अर्थ यह है कि जो काम किये जाते हैं उनसे

http://sahjanandvarnishastra.org/

परलोकके लिए भोगोंकी चाह करना, इस लोकके लिए भी चाह करता, यह सब कांक्षा है। अथवा यों कहो कि कर्ममें और कर्मफलमें आत्मीय भाव रखना, यह मैं हूं, इस तरहका अपरिणामी भाव रखना और अन्य दृष्टियोंकी प्रशंसा करना यह सब कांक्षा कहलाता है। यद्यपि अन्य दृष्टि प्रशंसा अङ्ग अमूढ़दृष्टि है, अङ्गके प्रतिपक्षमें बताया गया, लेकिन उसका कोई चाह से सम्बन्ध है, भोगसाधनोंकी चाहसे सम्बंध है, इस कारण उसके साथ कांक्षा दोष लगा है। इस तरह अपने भोगके साधनोंकी चाह करना कांक्षा दोष है। यह दोष मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। जिनके कांक्षारहित अविकार शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि है उनके कांक्षा नामका दोष नहीं जगता।

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥५४८॥

कांक्षाका मुख्य चिह्न अरुचिकरविषयोंमें विषादकी संभूति—इस श्लोकमें कांक्षाका चिन्ह बताया जा रहा है। ऐसे विषयोंमें यदि बड़ा उद्वेग होता है तो समझना चाहिए कि वह भोगाभिलाषाका चिन्ह है। अभिलाषाओंका सूक्ष्म रीतिसे पता पड़ना बहुत कठिन है और उसका परिचय इस प्रकारसे होता है कि यदि अनिष्ट विषयोंमें द्वेष जग रहा है, अनिष्ट विषयोंका समागम आनेपर उद्वेग होता हो तो समझना चाहिए कि इसके भोगोंकी अभिलाषा है। जैसे भोजनपानमें करीब रोज अच्छा ही भोजन करते हैं। उसमें बहुतायतसे यह पता नहीं पड़ता कि हमको इसमें लम्पटता है या आसक्ति है। यह सहसा पता नहीं पड़ता, क्यों कि रोजका काम है, रोज ही खाते हैं, रोज ही प्रायः सुविधासे भोजन मिलता है। किन्तु जब किसी दिन अनिष्ट भोजन प्रसंग हुआ, अरुचिकर कोई भोजन मिला या रुचिकर भोजन न मिला ऐसा कोई अनिष्ट प्रसंग आया उस समय यदि द्वेष जगता है तो समझना चाहिए कि हमको विषय लम्पटता है। इसी प्रकार सभी विषयोंमें यही बात समझनी चाहिए। यदि अपने अपमानमें विषाद उत्पन्न होता है तो समझना चाहिए कि सम्मानकी अभिलाषा अभी समाप्त नहीं हुई। अथवा साधारण रीतिसे पता नहीं पड़ता कि हमको सम्मानकी अभिलाषा है, पर अपमान होनेपर यदि उसके विषाद उत्पन्न होता है तो वह चिन्ह है सम्मानकी अभिलाषा। यों साधारण रीतिसे यह विदित होता है कि हमें प्रशंसा न चाहिए, क्योंकि रोज के साधारण वातावरण हैं, मिलना-जुलना सब चल रहा है, वहाँ यह परिचय नहीं हो पाता कि हमको प्रशंसाकी उत्सुकता है। लेकिन जब कभी निन्दाकी बात सामने आये और वह उसमें प्राणभय जैसा दुःख मानता हो तो वह सम्मानकी अभिलाषाका सूचक है। तो यहाँ कांक्षाका चिन्ह बताया जा रहा है कि जो इन्द्रियसे अकिञ्चितकर हो, ऐसा विषयोंमें उद्वेग होना, यह भोगाभिलाषाका चिन्ह है, क्योंकि यह सिद्ध है कि जब अरुचिकर विषयोंमें द्वेष

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है तो इष्ट विषयोंमें राग अवश्य है।

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं बिना।
नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं बिना ।।५४९।।

द्वेषोद्भूतिकी रागपरिचायकता—विपक्षमें द्वेष हुए बिना स्वपक्षमें राग नहीं होता और विपक्षमें राग हुए बिना स्वपक्षमें द्वेष नहीं होता। उक्त श्लोकमें जो भोगाभिलाषाका चिन्ह बताया गया है उसीके समर्थनमें कहा जा रहा है कि विपक्षमें राग नहीं है तो स्वपक्षमें द्वेष न होगा और विपक्षमें द्वेष है तो स्वपक्षमें राग होगा। यह कहा गया है एक सामान्य अन्वय सम्बन्ध बनानेके लिए। अनिष्ट विषयोंमें द्वेष होता है तो समझना चाहिए कि इष्ट विषयोंमें उसके राग है। शान्तिकी परीक्षा अशान्तिके समागम मिलनेपर होगी। क्षमाकी परीक्षा क्रोधके समागम मिलनेपर होती है। तो अनिष्ट पदार्थोंमें यदि द्वेष जग रहा है तो उससे यह सिद्ध है कि हमको इष्ट पदार्थमें राग है। तो भोगाकांक्षाका जो चिन्ह बताया गया वह संगत है। यदि अनिष्ट विषयमें उद्वेग होता है तो समझना चाहिए कि इष्टविषयमें राग है। एक वस्तुमें राग है तो दूसरेके द्वेष भी अवश्य सिद्ध होता है। दूसरेमें राग है तो पहिलेमें द्वेष सिद्ध होता है तो ऐसे ही यदि अनिष्ट विषयमें द्वेष है तो इष्ट विषयमें राग सिद्ध होता है। तो यह सिद्धिकी परीक्षा है और परीक्षा पर कसी हुई चीज सफल होती है। तो यह संसार जो समागम परिवार आदिक हैं, ये तो परीक्षाके अवसर हैं। उस समयमें भी अपने आपके अन्तस्तत्त्वकी सुध रहे और इसकी शरणमें जाकर एक परमशान्ति आये, जिसके बलपर यह कह उठें कि ये सब न कुछ चीजें हैं। इनसे मेरा क्या बिगाड़ है? ऐसा बल प्रकट होता है अनिष्ट समागमके प्रसंगमें। तो भोगाकांक्षाका यह चिन्ह बताया है कि अनिष्ट में उद्वेग होना भोगाकांक्षाका चिन्ह है।

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ।।५५०।।

रागद्वेषकी सापेक्षताका दृष्टान्त—उक्त बातको ही दृष्टान्तमें सिद्ध कर रहे हैं। जैसे किसी पुरुषको शीतसे द्वेष है, तो समझना चाहिए कि वह उष्णस्पर्शको चाहता है और जिसको शीतस्पर्शसे अरुचि हो रही है वह उष्णस्पर्शको चाह रहा है। जैसे ठंडके दिनोंमें बहुतसे लोग हीटर वगैराका प्रयोग करते हैं, तो उनकी यह क्रिया इस बातको सिद्ध करती है कि उन्हें शीतस्पर्शसे द्वेष है। यद्यपि ये दोनों ही स्पर्श (शीत और उष्णस्पर्श) हम आपके लिए सहयोगी हैं, फिर भी इनमें इष्ट रागका पता सूक्ष्मतासे पाड़ नहीं सकते। तो उसका परिचायक है अनिष्ट द्वेष। अनिष्ट प्रसंग आनेपर द्वेष हो तो समझना चाहिए कि उसको इष्टमें राग है। इस तरह यह सिद्ध किया गया कि अनिष्ट विषयोंमें उद्वेग होना इष्ट विषयोंमें रागका चिह्न है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ।।५५१।।

कांक्षाका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित गुणकी प्रसिद्धि—उक्त प्रकार जो वाञ्छाका स्वरूप बताया गया है, ऐसी वांछा जिसके हो वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है । भीतरसे भोगसम्बन्धी अभिलाषाओंका जगना तब ही सम्भव है जब कि उसको पर्यायमें आत्मबुद्धि हुई है और मानता है कि इस पर्यायके फैले रहनेसे मेरा जीवन है । और उस पर्यायके सहयोगी अथवा उस पर्यायका सम्बंध रखने वाले इष्ट अनिष्ट विषयोंमें उसके द्वेष चलता है । उसमें हो रहा है वह लम्पट । अपने आपकी सुध रहती नहीं, तो समझना चाहिए कि वह मिथ्यादृष्टि है, और जिसके यह कांक्षा नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है । भोग सम्बन्धी अभिलाषा न किसी बाह्यपदार्थकी कांक्षासे अपने आपका पूरा होना नहीं समझ पा रहा है तो वह सम्यग्दृष्टि है, यह बात युक्तिसे सिद्ध है, स्वानुभूतिसे सिद्ध है और आगमसे सिद्ध है । आगममें लिखा है, सो यह प्रसिद्ध बात है, पर युक्ति भी बताती है, अन्य युक्तियाँ भी हैं कि यदि इन भोगाभिलाषाओंसे तृप्ति होती तो फिर बड़े-बड़े पुरुष उनको छोड़कर निर्ग्रन्थताको क्यों अङ्गीकार करते ? और स्वानुभूति तो पूरे तौरसे बतायी गई है । जो पुरुष इस स्वानुभूतिरूप भीतरी चारित्रको अङ्गीकार करे उस सम्यग्दृष्टि पुरुषके भोगोंकी अभिलाषा नहीं होती ।

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्र भोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम् ।।५५२।।

मिथ्यादृष्टिके इष्टार्थसंयोगाभिलाषाकी अनवरतता—सम्यग्दृष्टि जीवकी कैसी भावना होती है जिससे कि भोगाभिलाषाको आश्रय मिलता है ? यह अज्ञानी जीव ऐसी भावना रखता है कि परलोकमें इष्ट पदार्थका संयोग है । इस लोकमें भी इष्ट पदार्थके संयोगकी अभिलाषा करे वह भी कांक्षा है, पर मुख्यतया यहाँ परलोककी बात यों कही गई है कि जिसको यह भावना हुई कि परलोकमें मेरेको सुख भोगनेके अच्छे साधन मिलें तो उसके तो नियमसे मिथ्यात्व है । इस लोकमें कदाचित् चारित्रमोहके तीव्र विपाकसे बाह्यचारित्रमें कदाचित् इच्छा जग सकती है, लेकिन उस इच्छामें अभिलाषा नहीं है । तो परलोकमें जो भोगाभिलाषा चाहता है वह तो नियमसे मिथ्यादृष्टि है और इस लोकमें भी जो भोगाभिलाषा चाहता है वह भी मिथ्यादृष्टि जीव है । इस अज्ञानी जीवके अपने समग्र कल्याणके अभीष्टोंकी सिद्धि भोग भोगनेके अलावा और कुछ नहीं है । और इस लोकमें जो कुछ उसने समागम पाया है उनमें मौज लेना, बस यह ही एक जीवनकी सार्थकता है । यह बुद्धि मिथ्यादृष्टिके रहा करती है । जो कुछ सामग्री प्राप्त है, बस यही परमविभूति है । इससे बढ़कर और कुछ विभूति नहीं हुआ करती । ऐसी समझ इस अज्ञानी जीवके पड़ी हुई है ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निःसारं प्रस्फुरत्येषं मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥५५३॥

मिथ्यादृष्टिकी उन्मत्तवत् निःसार भावनायें—अज्ञानी जीवके पूर्व श्लोककी भाँति अनेक निःसार भावनायें हुआ करती हैं । तो ये भावनायें मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होती हैं । तृप्ति, सन्तोष, आनन्द जहाँ प्राप्त हो सकता है उसकी जब सुध नहीं, उसका दर्शन ही नहीं तो वह बेचारा करे क्या ? जीवका जो स्वरूप है वह यही प्रेरणा करता है कि हम सुखी हों । जीवका आनन्दस्वरूप है, वह तो प्रेरणा करेगा ही कि हम आनन्दमें रहा करें । अब अज्ञानी जीवको प्रेरणा तो मिल रही है अपने स्वरूपके कारण, लेकिन उसको आनन्दके धामका परिचय है नहीं तब कहाँ वह विश्वास करे, कहाँ विराम करे ? उसको कुछ जंचेगा वहाँ विराम करेगा । ज्ञानी जन आनन्दके धाम हैं । वे तो अपने आपके स्वरूपमें ही परमविश्राम करते हैं, सहजानन्दस्वरूप बनते हैं, लेकिन प्रेरणा तो भीतरमें आनन्दस्वरूपकी मिल रही है, लेकिन ज्ञानने उल्टा ज्ञान बता दिया, तो जिस ज्ञानने यह ज्ञान कराया मिथ्यात्वके पुटका, लेकिन जहाँ जान लिया कि यह ही इस मुझ आत्माका सर्वस्व है तो बस वहाँ ही मग्न रहता है । जैसे कोई उन्मत्त पुरुष उन्मत्तताके कारण यत्र-तत्र डोलता रहता है अथवा समुद्रके अन्दर जैसे वायुके प्रबल वेगके कारण तरंगें उछलती रहती हैं ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयसे इस जीवके मिथ्याकल्पनायें उछलती रहती हैं, जो कि निःसार हैं ।

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षा बिना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥५५४॥

भोगाकांक्षाके बिना ज्ञानीके व्रतक्रियाचरणमें शंकाकारकी आशंका—अब यहाँ शंकाकार पूछता है कि देखिये—कितना ही मंद बुद्धि वाला कोई पुरुष हो वह भी किसी कार्यको करेगा तो उद्देश्यके बिना न करेगा । कार्य करनेकी प्रवृत्ति है तो उसकी कुछ भावना तो होगी, इच्छा तो कुछ होगी । जब कुछ उद्देश्य है तब ही तो वह मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करता है । तो ज्ञानी पुरुषको भी देखा गया है कि वह भी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करता है । सम्यग्दृष्टि श्रावक अविरत अथवा प्रमत्तविरत मन, वचन, कायकी चेष्टायें किया करता है । जैसे बड़े-बड़े साधु पुरुष भी आहार तो लेते ही हैं । यहाँ श्रावक ज्ञानी गृहस्थ भी आहार तो करते ही हैं । अनेक प्रकारकी ये चेष्टायें देखी जा रही हैं । उद्देश्यके बिना कोई चेष्टा होती नहीं, इसी प्रकार इनकी ये व्रतचेष्टायें बिना इच्छाके बन कैसे जायेंगी ? अथवा व्रत भी यहाँ कोई पुरुष धारण कर रहा है तो क्यों तकलीफ सह रहा है ? मालूम होता है कि उसको कुछ चाह है कि मुझे सुख मिले, मुझे आराम मिले, भोग मिले तब ही तो व्रत आदिक किया करता है, क्योंकि कोई भी काम बिना उद्देश्यके कोई नहीं करता । फिर यह कैसे बताया जा रहा है

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि ज्ञानी पुरुषके भोगाकांक्षा नहीं होती ?

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाऽशुभावहम् ।।५५५।।
न चाऽऽशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ।।५५६।।
यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात् ।।५५७।।
सरागे वीतरागे वा नूनं मौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ।।५५८।।
न वाच्यं स्यादात्मदृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः ।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ।।५५९।।
यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ।।५६०।।

सभी क्रियाओंका फल बन्ध होनेके कारण व्रती पुरुषके स्वानुभूतिका व दृष्टिदिव्यता का अभाव बताते हुए शंकाकार द्वारा उक्त शंकाका समर्थन—शंकाकार पहिली ही शंकाका समर्थन करनेके लिए इन ६ श्लोकोंमें फिर भी कह रहा है कि देखिये—जितनी भी क्रियायें होती हैं वे उद्देश्यके बिना नहीं होतीं । यह बात तो ऊपर बतायी गई है, पर दूसरी बात भी यह समझिये कि जितनी भी क्रियायें की जाती हैं उन सब क्रियाओंमें बन्ध होना आवश्यक है । उन क्रियाओंका फल है बंध होना । यह भी बात पूर्णतया सत्य है और आगममें भी बताया है कि यदि वह शुभ क्रिया है तो उसका फल शुभ होगा और अशुभ क्रिया है तो उसका फल अशुभ होगा याने कोई भी क्रिया हो उसका बंध जरूर होगा । तो ज्ञानी जीव भी अनेक क्रियायें कर रहा है, तो उनका फल भी आवश्यक है । यहाँ यह शङ्काके लिए बात न रह जायगी कि कोई क्रिया बंध करती हो और कोई बन्ध न करती हो । जैसे कि कहीं-कहीं कह डाला कि ज्ञानीकी क्रिया बन्ध नहीं करती, अज्ञानीकी क्रिया बन्ध करती, तो यह कैसे हो सकेगा ? क्रिया तो क्रिया है । जिसके क्रिया हो उसीके बंध है—ऐसी भी शंका न करनी चाहिए । शङ्काकार कह रहा है कि कोई पुरुष ऐसा सन्देह न करे कि जैसे वीतराग पुरुषमें क्रिया होती है, अरहंत भगवानके विहार आदिक होता है तो वह क्रिया बन्धरूप फलको नहीं उत्पन्न करती । इसी तरह सम्यग्दर्शनका कोई ऐसा अद्भुत अतिशय है कि उसके कारण सराग जीवमें भी क्रिया बन्धफल वाली नहीं होती है । यह सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो वीतराग है । उसकी क्रिया बंधफल वाली नहीं है । अगर सराग है और फिर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी कहा जाय कि इसकी क्रिया बंधको न करेगी तो इसको कौन मान लेगा ? यह बात स्पष्ट सिद्ध है। प्रमाणसिद्ध है कि जितनी भी क्रियायें हैं वे सब बन्धरूप फलको पैदा करने वाली हैं। १२वें गुणस्थानसे पहिले सभी क्रियायें बन्धको उत्पन्न करती हैं। चाहे वह सराग हो, चाहे वीतराग पुरुष हो। आखिर क्रिया होती है तो कर्मके उदय होती है। कर्मके उदयसे होने वाली क्रिया नियमसे बन्धको उत्पन्न करेगी। इससे एक भगवानको भले ही छुट्टी दे सकते हो, बाकी सबके जितनी भी क्रियायें होंगी वे बंधरूप फलको अवश्य पैदा करेंगी। और भी सुनो— मोहनीयकर्मकी प्रकृतिमें से किसी भी प्रकृतिका उदय हो वहाँ बुद्धिका दोष तो हो ही जायगा। चाहे मिथ्यात्वका उदय हो या सम्यक्मिथ्यात्वका हो या सम्यक्प्रकृतिका हो तो जब दोष उत्पन्न हो जायगा तो किसीको स्वानुभूति वाला भी न कहा जा सकेगा और क्योंकि बुद्धिका अविनाभावी तो सम्यक्विशेषण है। सम्यग्ज्ञानका अभाव होनेसे उस जाननमें दिव्यता भी कैसे आ सकती है ? प्रयोजन यह है कि क्रियायें जितनी होती हैं वे सब बन्धको उत्पन्न करती हैं और जब बंध होता है तो उसका फल नियमसे होगा। तो ज्ञानी जीव इतनी क्रियायें करता है, व्रत पालता है, फिर भी कहा जाता कि उसको बंध नहीं होता, उसके भोगोंकी आकांक्षा नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार शंकाकारने अपनी पूर्व शंकाका समाधान किया।

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया।
शुभाभाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥५६१॥

अनभिलाषीके भी क्रियाकी संभवताकी सिद्धिके कारण व्रतक्रियाचारी ज्ञानीके बन्ध शङ्काका अभाव बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त इतनी बड़ी शंकाका समाधान इस श्लोकमें दिया जा रहा है। शंकाकारकी उक्त शंका असंगत है, क्योंकि पहिले यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया गया कि इच्छाके बिना भी क्रिया हो सकती है, फिर शुभ क्रियाओंमें और अशुभ क्रियाओंमें विशेषता क्या रही ? इस प्रश्नका अवकाश कहाँ रहा ? यदि अभिलाषा है, दर्शनमोहकृत मलिनता है तो वहाँ वह शुभ क्रिया बन्धफल वाली होगी। तो दर्शनमोहकृत भोग अभिलाषा इसके नहीं है तो वह क्रिया बन्धफलरहित होती है। जिस मनुष्यको बन्धफलकी चाह नहीं होती उसके भी क्रिया देखी जाती है और ऐसी बात इस लोकमें भी देखनेको आ रही है कि इच्छा नहीं है तब भी उसको करना पड़ता है। कैदी चक्की पीसता है तो क्या वह अपने मनसे पीसता है ? अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलेंगे कि जिनमें इच्छा न होते हुए भी क्रिया करनी पड़ती है। तो ऐसी क्रियाको न शुभ कहेंगे, न अशुभ कहेंगे। वह तो हो रही है। जो शुभ परिणामसे किया जाय वह तो शुभ क्रिया है और जो अशुभ परिणामसे किया जाय वह अशुभ क्रिया है। पर जहाँ क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं है वहाँ क्रियाको शुभ या अशुभ क्या कहा जा सकता है ? तो दर्शनमोहका अनुदय होनेपर, अभिलाषाओंका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अभाव होनेपर फिर भी जो चारित्रमोहकृत क्रिया होती है वह संसारबन्धफल वाली नहीं होती है ।

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥५६२॥

बिना इच्छाके इष्टार्थसंयोगरूपा क्रिया न हो सकनेकी शंकाकारकी आरेका—शंकाकार कहता है कि जो यह सिद्धान्त बताया गया था कि ज्ञानीकी क्रिया बन्धफल वाली नहीं होती है तो देखिये—ज्ञानी पुरुष व्रत धारण करता है तो व्रत तो इष्ट पदार्थका संयोग जैसी चीज है। व्रत चाहता है उसे इष्ट है और स्वतंत्र होकर हो रहा है । तो जब व्रतको चाह करके कर रहा है इष्ट पदार्थका संयोग है, तो इष्ट पदार्थका संयोग करने वाली क्रिया न चाहने वाले पुरुषके कैसे हो जायगी ? हाँ कोई अनिष्ट पदार्थोंका संयोग हो, उसे कह सकते कि बिना चाहे भोगना पड़ा । जैसे दरिद्रता आयी, मरण आया या व्याधि आयी तो ये सब क्रियायें न चाहकर करनी पड़ीं, यह कहा जा सकता है । परन्तु इष्ट पदार्थका संयोग बिना चाहे किया गया, यह कैसे कहा जा सकता है ? और जब बिना चाहे व्रतक्रिया सिद्ध नहीं होती तब बन्धफल करने वाली क्रिया है ही, ऐसा मान लेना चाहिये ।

सक्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात् सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥५६३॥

व्रतक्रियाको स्वतंत्रतासे किया जाना बताकर बिना इच्छाके व्रतरूप क्रियाकी असंभवताकी आरेकाका शंकाकार द्वारा समर्थन—शंकाकार ही पूर्व शंकाका समर्थन कर रहा है कि जो व्रतरूप क्रिया है वह तो समीचीन क्रिया है । तो जो व्रत न चाह रहा हो उसके यह समीचीन क्रिया कैसे हो सकती है ? और व्रत तो उसने स्वतंत्र होकर ही किया, चाहकर किया, किसीकी जबरदस्तीसे नहीं किया । तो जब स्वतंत्र होकर क्रिया की गई तो इससे सिद्ध है कि वह ज्ञानी पुरुष इन व्रतादिक क्रियाओंको करता है और जो करता है सो बन्ध पायगा । फिर यह कैसे कहा गया कि ज्ञानीकी क्रिया बन्धफल वाली नहीं होती । श्रेष्ठ क्रिया, व्रत जैसी महती क्रिया इच्छा किए बिना नहीं हो सकती । व्रतरूप क्रिया इच्छाके अनुसार की जाती है । इस कारण व्रत करने वाला जो व्रती पुरुष है, वह बन्ध करने वाला है, यह सिद्ध होता है ।

नैवं यतोस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥५६४॥

कर्मोदयात्मक सर्व क्रिया व क्रियाफलकी अनिष्टार्थताका निर्णय होनेसे ज्ञानीके क्रिया व क्रियाफलकी अनाकांक्षा बताकर उक्त शंकाका समाधान—उक्त शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शंकाकारकी उक्त शंका संगत नहीं है, क्योंकि जितने भी कर्मकाण्ड कर्मके उदयमें प्राप्त हुए हैं वे सब ज्ञानीको अनिष्ट हैं। इसी कारण ज्ञानी पुरुष समस्त कर्म और कर्मफलको नहीं चाहता। संसारकी जितनी अन्य क्रियायें हैं, वैषयिक क्रियायें हैं, विषय कषाय सम्बन्धी बातें हैं उनको तो ज्ञानी चाहता नहीं है, यह बात लोगोंकी समझमें सुगमतासे आ जाती है, लेकिन यह बात जरा कठिनाईसे समझमें आयगी कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष व्रत महाव्रत, साधुव्रत, श्रावकव्रत जैसी क्रियाओंको भी नहीं चाहता, फिर भी करता है। न चाहनेका कारण यह है कि उसकी दृष्टिमें तो ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानके मग्न होनेकी बात ही सर्वोच्च है। इससे हल्की बात वह कुछ भी नहीं चाहता। केवल एक यही भावना है कि इच्छा, विकार, राग, भोग संयोग कुछ भी न रहे और मैं केवल एक ज्ञानस्वरूप रह जाऊँ, उसके ऐसा अन्तःप्रकाश है, इस कारण ज्ञानी पुरुष व्रतको भी नहीं चाहता है। फिर कोई कहे कि वे व्रत करते क्यों हैं ? सो व्रत यों करना पड़ता है कि जब दुष्ट कर्मोंमें फंसे हुए हैं तो इन दुष्ट कर्मोंसे निकलनेके लिए जो भी तत्कालके उपाय बन पाते हैं सो किए जाते हैं। तो जब समस्त कर्म और कर्मफलको ज्ञानी चाहता नहीं है तो ज्ञानीकी व्रत क्रिया भी बंधफल वाली नहीं है।

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत् ॥५६५॥

दृष्टिदोषसे ही किसीकी इष्टार्थता व किसीकी अनिष्टार्थताके विकल्पका कथन—तथ्य तो यह है कि जगतमें कोई भी पदार्थ, कोई भी क्रिया अभीष्ट नहीं है, हितकारी नहीं है। सभी अनिष्ट हैं, अनिष्टफलके देने वाली हैं। चाहे वह शस्त क्रिया हो चाहे दुष्ट, सभी जीवों को अहितकारी है, फिर भी इस लोकमें प्रयोजनवश पदार्थोंमें किसीको इष्ट मान लिया जाता है और किसीको अनिष्ट मान लिया जाता है। यह सब मान्यता दृष्टिदोषसे है। मिथ्यात्वकी प्रेरणा पानेके कारण यह जीव इन परपदार्थोंमें कुछको इष्ट और कुछको अनिष्ट मानता है। यदि कोई पुरुष व्रत उपवास आदिक धर्मसाधनोंको हृदयसे इष्ट मानकर करता है तो उसे समझना चाहिए कि अन्तः शुद्ध स्वरूपकी सुध नहीं है कि जहाँ मग्न रहकर ही संतोष पाया जा सकता है, वह कुञ्जी इसको प्राप्त नहीं हुई है। तब ही जैसे पहिले वैभवमें, परिजनमें इष्टबुद्धि करता था अब धर्मकार्यमें, व्रत आदिकमें इष्टबुद्धि कर रहा है। उसने यह नहीं समझा कि इस संसारमें जन्म मरणसे इन सर्वअनिष्ट समागमोंसे छूटनेका उपाय वर्तमान में इस कमजोर स्थितिमें व्रत आदिक करनेसे बनेगा अन्यथा काम न बन सकेगा। इस तरह काम बनानेके लिए व्रत किया गया है, न कि उसे इष्ट समझकर व्रत किया गया है। तो यद्यपि समस्त जगतके साधन अर्थ सब अनिष्ट हैं फिर भी यहाँ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट जो माना जाता है तो वह सब दृष्टिदोषसे माना जाता है। जैसे शंख तो सफेद है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर जिसके दृष्टिदोष है, जिसके पीलिया रोग है उसे पीला दिखता है। तो दृष्टिदोषसे ही तो सफेद शंख पीला दिखा। इसी तरह दर्शनमोहके उदयमें मोहबुद्धिमें जो भी कर्मोदयसे प्राप्त समागम हैं उनमें किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मान लेते हैं दृष्टिमुग्ध प्राणी। वास्तविक बात यह है कि कर्मोदयसे प्राप्त सभी समागम अनिष्ट ही हैं।

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी।
तस्याऽनिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥५६६॥

दर्शनमोहका अत्यय होनेपर सूक्ष्मार्थदर्शिनी दृष्टि होनेके कारण ज्ञानीके सर्वक्रियाओं में व क्रियाफलोंमें अनिष्टार्थताका निर्णय—दर्शन मोहनीय कर्मका विनाश हो जानेपर दृष्टि सूक्ष्म अर्थको देखने वाली बन जाती है। इस कारणसे ऐसी दृष्टि वाले पुरुषके कर्मफलात्मक अनिष्ट पदार्थोंमें अनिष्टरूपसे ही बुद्धि हुआ करती है। व्रत आदिक क्रियायें किस तरहसे हुईं इसका कारण देखिये—कुछ कर्मका उपशम है, कुछ कर्मका उदय है ऐसी जो कर्मोंकी स्थिति है उस स्थितिका निमित्त पाकर ये व्रतक्रियायें हुई हैं, न कि आत्माकी शक्तियोंसे, परनिरपेक्ष होकर स्वतंत्रतासे हुई हैं। आत्माकी शक्तिमात्रसे जो परिणति होगी वह शुद्ध रत्नत्रयरूप परिणति होगी। पूर्ण शक्तिमान किसे कहते हैं? पूर्णशक्तिमान उसे कहते हैं जो परकी मदद, परका कुछ भी आश्रय लिए बिना स्वयं अपनी शक्तिसे परिणति कर सकता हो। तो आत्मा ऐसा ही पूर्ण शक्तिमान है तो उस शक्तिका किया हुआ काम कौन कहलायेगा? जिस कामके किए जाने के लिए किसी दूसरेके आश्रयकी अपेक्षा न रहे वह ही कार्य इस पूर्ण शक्तिमान आत्माका कार्य है, इसके अतिरिक्त जो अन्य क्रियायें हैं, यद्यपि ऐसी शक्ति जहाँ नहीं है वहाँ न होगी ये तो भी पर उपाधिकी अपेक्षा करके हुई है, इस कारण वह सब औपाधिक है, कर्मोदयात्मक है और इस जीवके लिए अनिष्ट है।

नचाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥५६७॥

कर्म और कर्मफलकी दुःखहेतुताके कारण अनिष्टार्थताकी सिद्धिका प्रतिपादन—ज्ञानी जीवके हृदयकी बात खोली जा रही है कि वह अपने आपमें कितना स्पष्ट और उलझनसे रहित सुलझा हुआ दिव्य आत्मा है? इस ज्ञानी पुरुषके कर्म और कर्मफल ये सबके सब उसे अनिष्ट हैं। चाहे व्रतके काम हों, चाहे लौकिक धर्मके कार्य हों, कोई प्रकारके कार्य हों, जो कर्मके उदयसे कुछ भी सम्बन्ध रखता है वह सब उसके लिए अनिष्ट है, क्योंकि उसका ध्येय यह बन चुका है कि मुझे तो संसारसंकटोंसे छुटकारा पाकर एक निज स्वरूपमात्रमें रम जाना है, और जगतमें कुछ भी इष्ट नहीं है। तो क्या यह चीज व्रतके फलसे मिलती है? यह तो निर्विकल्प समाधिके बलसे मिलती है। व्रतमें जो रागांश पड़े हुए हैं उनका फल तो है स्वर्गा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दिकमें उत्पन्न हो जाना या जो भी संसारकी महान बातें उत्पन्न हो जायें, यह तो सम्भव है, किन्तु आत्मा आत्मामें रम जाय, सदाके लिए संसारके संकटोंसे छुट्टी पा ले, यह बात तो एक निर्विकल्प समाधिसे ही प्राप्त हो सकती है। तो जिसने अपना ध्येय इतना शुद्ध बना लिया हो, ऐसे ज्ञानी पुरुषको व्रतक्रिया भी इष्ट नहीं है, करते हुए भी इष्ट नहीं है। जितने भी कर्म हैं, जितने भी कर्मफल हैं वे कुछ रागांशोंको लिए हुए हैं, और व्रत धारण करते हुए ज्ञानी पुरुष के जितना उसके ज्ञान और वैराग्य है उतनी तो उसके मोक्षमार्गकी साधना है और जितना उसके राग पड़ा हुआ है, जिसके बलपर व्रतक्रियायें उठ बैठती हैं, वह रागांश मोक्षमार्गका साधन नहीं, किन्तु संसारमें देवादिक सद्गतियोंका कारण होता है। तो जितने भी कर्म और कर्मके फल हैं वे सदा दुःखके ही कारण हैं, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध की गई थी, आगम भी बताता है और स्वानुभवसे भी प्रसिद्ध होता है। जिस पुरुषने अपना ध्येय विशुद्ध केवल ज्ञान-स्वरूपमात्र रह जानेका नहीं बनाया है उस पुरुषको मोक्षमार्ग कहाँसे प्राप्त हो सकेगा ? और जिसने केवल ज्ञानमात्र स्वरूपमें रमनेका ही उद्देश्य बनाया है उसको यह दिख गया कि यह बात निर्विकल्पसमाधिसे सम्भव है, रागसे सम्भव नहीं, लेकिन जब वहाँ तक पहुंच नहीं सक रहे हैं और यहाँ इन कषायोंके परिणाममें बने हुए हैं, ऐसे समयमें उस ही कामको बनानेके लिए एक परम्पराका यत्न किया गया है। यह साक्षात् मोक्षमार्गका साधन नहीं है। तो जो साक्षात् कैवल्यको प्राप्त करनेका उद्देश्य बनाये हुए है उसे तो उसकी ओर धुन है, न कि व्रत की ओर। व्रत तो उस ज्ञान और रागकी मिश्र अवस्थामें करना पड़ रहा है।

अनिष्टफलवत्त्वात् स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥५६८॥

अनिष्टफलवती होनेके कारण व्रतक्रियाओंकी भी अनिष्टार्थताका ज्ञानीका निर्णय— जितनी भी व्रतक्रियायें हैं वे सब मन, वचन कायकी चेष्टायें हैं, ये बन्धकी ही करने वाली होती हैं, इसलिए सारी क्रियायें अनिष्ट हैं। तो व्रतक्रिया भी प्रवृत्तिमयी क्रिया है। व्रतक्रिया का भी फल अनिष्ट है, क्योंकि व्रतक्रिया रागांशके कारण बन रही है और रागांशके फलमें भी चाहे अनुदिश अनुत्तर विमानोंमें स्थित हो जाय, लेकिन क्या उसकी वह स्थिति आदर्श है ? ज्ञानीके निर्णयमें तो जो सिद्ध भगवानकी स्थिति है वह आदर्श है। तो जो सिद्ध स्थिति का साधन बने वह तो ज्ञानीको इष्ट हो सकता है, मगर जो संसारकी किसी भी गतिका कारण बने वह बात ज्ञानीको इष्ट नहीं हो सकती। अब इस तरह यों कह लीजिए कि संसारी प्राणीने पापसे पापक्रिया करके नरकादिक दुःख पाये हैं, कुयोनियोंमें जन्म पाया है तो वह काम तो बुरा है ही, उन गतियोंमें उत्पन्न होना बुरा ही है। उन गतियोंमें उत्पन्न होनेका जो कारण बना है वह भी बुरा है। अब यहाँ देखिये कि व्रतक्रिया करनेके फलमें देव हो गए,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। तो ये सब समागम भी क्या भले हैं या बुरे ? संसारके ये सब पुण्य समागम पुण्यके फलमें प्राप्त होने वाले ये सब समागम, भोगके साधन यह भली बात है या बुरी बात ? सोचिये, इसने साधुसम जन्म मरणसे मुक्त होनेका ध्येय बनाया है और वह ध्येय सिद्ध नहीं हो पा रहा है विशिष्ट देव आदिक होनेमें, तो वह भी इस ज्ञानीको बुरा लगता है। तो अब इस व्रतका फल बुरा रहा कि अच्छा ? कोई होता है बहुत बुरा, कोई होता है मंझला बुरा और कोई होता है कम बुरा। चाहे कितना ही कम बुरा हो, है तो बुरा ही। जैसे किसी विपरीत अभिप्राय वाले पुरुषका उद्देश्य बुरे कार्यको ही उत्पन्न करेगा, इसी प्रकार रागांशसे होने वाली क्रिया, वह भी बुरे कार्यको उत्पन्न करने वाली है। इस कारण ज्ञानी कर्म और कर्मफलको चाहता नहीं है। उसकी व्रतक्रिया चाहकर नहीं हो रही है, किन्तु उस स्थितिमें एक यह उपाय करना पड़ रहा है।

अथाऽसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात्।
कृते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चाऽसंभवो यतः ॥५६९॥

कर्मोदयकृत होनेसे व्रतक्रियाकी स्वतन्त्रसिद्धताकी असिद्धि—शंकाकारने यह शङ्का की थी कि ज्ञानी तो व्रतको स्वतंत्रतया करता है, किसीकी जबरदस्तीसे नहीं करता। खुद विचारता है कि मैं ऐसा करूँ, अमुक व्रत लूं, तो वह तो उसकी स्वतंत्र क्रिया हो गयी। ऐसा शंकाकारका आशय था। उसके समाधानमें कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टिके व्रतक्रिया स्वतंत्रतासे सिद्ध है, यह बात संगत नहीं है, क्योंकि वह क्रिया भी कर्मके फलसे होती है, तो वह व्रतक्रिया कर्मका फल हुई। तो अब क्रिया स्वतंत्र तो न रही। आत्माकी शक्तिमात्रसे, कर्मोदय बिना, किसी परकी अपेक्षा किए बिना ही उसे स्वयंसिद्ध कहना चाहिए। अब यह व्रतक्रिया तो कर्मका फलरूप है, फिर उसे स्वतंत्र कहलाना तो असिद्ध है, क्योंकि कर्मोदय हुए बिना व्रतक्रिया नहीं हो पाती। तो कोई पाप कर्मोदय होता है, उससे असत् क्रिया बनती है। कहीं कुछ सत् कर्मोदय होता है, और-और उपयोगी उदय होता है, उसके साथ कुछ कषायोंके भी उपशम होते हैं, तो इस स्थितिमें व्रतक्रिया बनती है तो व्रतक्रिया आत्माकी स्वतंत्रतासे कहाँ सिद्ध है ? वह तो कर्मोदय हेतुको पाकर हुई है। इस कारण ज्ञानी पुरुष व्रतक्रियाको स्वतंत्रतासे करता है, ऐसा कहना भी संगत नहीं है।

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽऽत्मनः।
यावत्यस्ति क्रियानाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥५७०॥

क्रियावोंके औदयिकत्वकी सिद्धि—चाहे कोई पुरुष क्षीणमोह हो अथवा अक्षीणमोह हो याने किसीका मोह गल गया है, निर्मोह हो गया है, ऐसा पुरुष हो और किसीके मोह बना हुआ है, ऐसा पुरुष हो, सभीकी जो भी क्रियायें होंगी वे सब औदयिकी क्रियायें कहलायेंगी।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और बात तो जाने दो, अरहंत भगवानके विहार, दिव्यध्वनि आदिक भी औदयिकी क्रियायें हैं। जो भी कर्म शेष रहे हैं उनके उदयमें हुई हैं क्रिया। तो औदयिकी क्रियायें हों, लेकिन उनमें अन्तर है। किसी औदयिकी क्रियाके होनेपर बन्धफल नहीं होता और किसी औदयिकी क्रियाके होनेपर बन्धफल हुआ करता है। ज्ञानी पुरुषके जो क्रिया व्रत आदिक हुए हैं वे सब कर्मोदयकी प्रेरणासे हुए हैं। हाँ व्रतप्रसङ्ग जरूर-जरूर ऐसे हैं कि कुछ ज्ञानका प्रकाश था उस स्थितिमें कुछ उस प्रकारका कर्मोदय भी है, इस तरह उसकी व्रतक्रिया हुई है तो वह है औदयिकी क्रिया, और औदयिकी क्रिया किस तरह है, इसका और भी समर्थन सुनो—

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥५७१॥

कर्मोदयके प्रसङ्गमें पौरुषकी दैवापेक्षता—देखिये—पुरुषका पुरुषार्थ कर्मोदयके प्रति यथेष्ट नहीं बन सकता है। जब तक जीवके कर्मोदय है तब तक वह जैसा चाहे वैसा पुरुषार्थ करे और वह सफल हो जाय, यह बात सम्भव नहीं है। तब जो कुछ कर्मोदयके इस प्रसङ्गमें बन रहा है, वहाँ जो भी क्रिया होती है उसे ऐसा न कहना चाहिए कि वह पुरुषार्थसे हुआ है, किन्तु वह तो कर्मोदयकी प्रेरणासे हुआ है। यहाँ संसारमें जो कुछ क्रियायें बनती हैं उनको पुरुषार्थ कहते हैं। लोकमें कहते हैं प्रवृत्तिको पुरुषार्थ, मगर इस तरहका पुरुषार्थ कर्मसे होता है, इस कारण यह पुरुषार्थरूप क्रिया भी औदयिकी क्रिया कहलाती है। तो यों कर्मोदयसे जितनी भी क्रियायें होती हैं वे सब औदयिकी क्रियायें हैं, और औदयिकी क्रियायें होनेसे उसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब चाह करके हुआ है। मिथ्यादृष्टि जीवके चाह उत्पन्न होती है और क्रिया भी बन जाय। सम्यग्दृष्टि जीवके किसी भी कर्म और कर्मफलमें अन्तः अभिलाषा नहीं है, इस कारण ज्ञानीकी क्रिया कर्मबन्धफल वाली नहीं है। यह बात जो कही गई है वह संगत है।

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियाम्।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥५७२॥

कर्मोदयप्रभव क्रियाको करते हुए भी निराकांक्ष ज्ञानी—उक्त विवेचनसे यह निर्णीत हुआ कि ज्ञानी पुरुष निःकांक्षित है और वह यद्यपि उदयरूप क्रियाको कर रहा है तो भी उसके अन्तः आकांक्षा नहीं है। जो निष्काम रूपसे कर्म करे तो निष्काम रूपसे किया गया कर्म रागके लिए नहीं हुआ करता। जैसे एक बात यहाँ प्रसिद्ध है कि निष्काम कर्म करना चाहिए। अन्य दार्शनिकोंके यहाँ भी यही बात कही गई है कि फल तो देना ईश्वरके हाथ है, लेकिन कर्म करना चाहिए तो निष्काम होकर करना चाहिए। तो ईश्वरकी जगह वहाँ भवितव्य लगा लेना चाहिए। फल तो भवितव्यके हाथ बात है। फलकी आकांक्षा न करते हुए

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर्म करना चाहिए । तो ऐसी बात यहाँ भी लगाओ कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको कर्मविपाकवश कुछ कार्य करने पड़ते हैं तो उनकी आकांक्षा उसके नहीं है, इस कारण वह निष्कामकर्मयोग है । इससे सिद्ध है कि ज्ञानी जीव निःकांक्षित ही हुआ करता है । विरागियोंकी कोई कर्मोदयजन्य होने वाली क्रिया रागके लिए नहीं हुआ करती । वह इच्छारहित हुआ करती है ।

नाशंक्यं चास्ति निःकाँक्षः सामान्योपि जनः क्वचित् ।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥५७३॥
यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं बिना ।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तद्त्यक्षमनिच्छतः ॥५७४॥

सम्यग्दर्शनके बिना निःकांक्षताकी असंभवताके विषयमें शंका समाधान—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि कांक्षारहित होना यह तो एक साधारणसी भी बात बन सकती है । जैसे सम्यग्दर्शन न हो, ऐसा पुरुष भी कांक्षारहित देखा जाता है । अनेक मिथ्यादृष्टि जन जिन्होंने आत्माके सहज स्वभावका अनुभव न किया हो, ऐसे पुरुष भी कभी-कभी इच्छारहित हो जाते हैं । और बहुतसी घटनायें देखनेमें भी आती हैं । कोई पुरुष बड़े झंझटमें पड़ गया और उसमें उसको कुछ लाभ भी नहीं दिखता तो वह उसकी आकाँक्षाको छोड़ देता है । ऐसे अनेक पुरुष देखे जाते हैं । फिर यह क्यों कहा जाता है कि निःकांक्षित गुण सम्यग्दृष्टिके हैं ? सम्यग्दर्शनके बिना ही मिथ्यादृष्टि जनोंमें, साधारण जनोंमें यह निरखा जाता है कि उनके आकांक्षा नहीं है, तब इस बातपर जो जोर दिया गया है कि निःकांक्षितपना सम्यग्दृष्टिके ही होता है, यह बात तो युक्त नहीं जंचती । इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यह सोचना कि सम्यग्दर्शनके बिना भी जीवमें निःकांक्षितपना आता है सो बात असंगत है । सम्यग्दर्शन हुए बिना निःकांक्षितका गुण आ ही नहीं सकता है, क्योंकि निःकांक्षितका अर्थ यह बताया गया है कि लौकिक जनोंके द्वारा पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें जो सुख माना जा रहा है उसकी इच्छा न होना और न सुखपूरक विषयोंमें प्रवृत्ति होना, यही तो निःकांक्षितपनेमें कहा गया है । तो इन्द्रियविषयोंके सुखोंकी इच्छा न होना, यह बात तब सम्भव है जब कि उससे बढ़कर कोई अतीन्द्रिय आनन्द अनुभवमें आया हो । अज्ञानी जनोंको अतीन्द्रिय आनन्दकी बात झाँकीमें भी नहीं आयी । जिसको अतीन्द्रिय आनन्दकी धुन नहीं है, ऐसे पुरुषको इन्द्रियसुखमें वांछा मिट जावे, यह बात असम्भव है । इससे सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके निःकांक्षितपना होता है । निःकांक्षितपनेका अर्थ है कि किसी भी संसारके सुखभोगकी चाह न होना । तो संसारके सुखोंकी चाहका अभाव हो जाना उसके असम्भव है जिसके अतीन्द्रिय आनन्दकी झांकी मिली है और उसकी ओर ही जिसकी धुन बनी है यह धुन मिथ्यादृष्टिके नहीं है । भले ही कारणकूट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिलनेपर किसी एक विषयकी आकांक्षा दूर कर दे, लेकिन अन्य विषयकी आकांक्षा वासना रूपमें पड़ी है, अथवा अन्यकी आकांक्षा करना होता है, जिसके आकांक्षा न रही विवशतासे या द्वेषवश, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवके यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसके निःकांक्षित गुण है।

तद्वत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टि स नेच्छति ।
दृङ्मोहस्य तथा पाकः शक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥५७५॥

मिथ्यादृष्टि जीवके अतीन्द्रियसुखकी इच्छाकी भी असंभवता— मिथ्यादृष्टि जीवने अतीन्द्रिय आनन्दको समझा ही नहीं है तो वह उसे चाहेगा ही क्या ? अतीन्द्रिय आनन्द उसे कहते हैं कि जहाँ इन्द्रियका कोई व्यापार नहीं, किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं भोगा जा रहा, न अन्यत्र कहीं विकल्प है, ऐसी समताकी स्थितिमें जो आत्मासे उत्पन्न होने वाला आनन्द है, निराकुलता है उसे कहते हैं अतीन्द्रिय आनन्द। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दको मिथ्यादृष्टि नहीं चाहता, क्योंकि उसके दर्शनमोहका उदय है, बुद्धि ही बिगड़ गई है, दृष्टि ही बदली हुई है। भले ही कुछ लेश्या विशुद्ध होनेसे बाह्य पदार्थोंमें उसकी आकांक्षा या तृष्णा तीव्र नहीं है, लेकिन अज्ञानी जीवके वासनाका अभाव होना सम्भव नहीं हो सकता है। तो मिथ्यादृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकर्मके उदयके कारण अतीन्द्रिय आनन्दकी झाँकी नहीं होती, न उसे वह ध्येय बना पाता। दर्शनमोहनीयका ऐसा ही विचित्र विपाक है कि इस जीवकी बुद्धि या दृष्टि ही अपनेसे विपरीत हो जाती है। वह निरखता है बाहरमें ही अपना सब कुछ है, सो अन्यमें अपनी एकता समझता है और सहजस्वरूपमें जैसा ज्ञानानन्दस्वरूप है उसको नहीं परख पाता है।

उक्तो निष्कांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
सस्तु का न क्षतिः प्राक्चेत्परीक्षा क्षमता मता ॥५७६॥

सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित गुणका समर्थन—यहाँ तक सम्यग्दर्शनके गुणोंमें निःकांक्षित गुणका वर्णन किया गया है। ऐसा यह निःकांक्षित गुण सम्यग्दृष्टिका एक अविनाभावी गुण है। यह परीक्षासिद्ध बात है। युक्तिसे भी यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके इन्द्रियविषयोंमें आकांक्षा रंच भी नहीं रहती है। यदि रहे तो वह सम्यग्दृष्टि क्या है ? जिसको संसारके संकटोंसे छूटकर अपने आपके विशुद्धस्वरूपमें समानेकी धुन लगी हो उसे अन्तरङ्गसे किसी बाह्य विषयमें आकांक्षा जगे, यह कैसे संभव हो सकता है ? और यदि कदाचित् प्रवृत्ति होती है उसकी तो समझना चाहिए कि ऐसा ही कोई चारित्रमोहका विपाक है जिससे प्रवृत्ति करनी होती है, लेकिन अन्दरसे वह करना नहीं चाहता। उसकी स्थिति एक इस भाँति होती है कि जैसे कैदीको सिपाहियोंकी प्रेरणाके कारण और उनके दंड दिये जानेपर उस चोटको न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सह सकनेके कारण चक्की पीसनी पड़ती है, कार्य करना पड़ता है, किन्तु उन कार्योंको करते हुए भी उन कार्योंके प्रति क्या उसकी आकांक्षा है ? शब्दभेदसे भी यह भेद है कि इच्छा और आकांक्षा। इच्छा तो तत्कालकी इच्छा जो कि विवशतामें भी हो और स्ववशतामें भी हो, किन्तु आकांक्षा स्ववशमें हुआ करती है। कर्मविपाककी तो विवशता है। ऐसी आकांक्षा सम्यग्दृष्टिके नहीं होती, किन्तु मिथ्यादृष्टिके होती है। तो दर्शनमोहनीयका अनुदय है सम्यग्दृष्टिके तो उसके ऐसी आकांक्षा सम्भव ही नहीं है।

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥५७७॥

निर्विचिकित्स गुणके वर्णनका संकल्प—निःकांक्षित गुणके वर्णनके बाद अब निर्विचिकित्सा नामक गुणका स्वरूप कहा जा रहा है। सम्यग्दर्शनका यह एक उच्च गुण है। निर्विचिकित्सा गुण भी युक्तिसे, स्वानुभवसे और आगमसे सिद्ध होता है। निर्विचिकित्सा गुण क्या है, यह बात आगेके श्लोकोंमें बतायी जायगी, पर शब्दसे अर्थ यह है कि विचिकित्सा न होना सो निर्विचिकित्सा है। निर्विचिकित्स पुरुष वह है जहाँ विचिकित्सा न रहे। तो निर्विचिकित्साका स्वरूप स्पष्ट रूपसे तब समझमें आयगा जब विचिकित्साका स्वरूप ज्ञात हो जाय। सो अब विचिकित्साका स्वरूप बतला रहे हैं।

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्धया स्वात्मप्रशंसनात्।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥५७८॥

विचिकित्साके लक्षणमें आत्मगुणोत्कर्षबुद्धि व परापकर्षबुद्धिकी प्रमुखता—इस श्लोकमें विचिकित्साका ऐसा अनूठा लक्षण बताया है कि जिससे विचिकित्साका जितना विस्तार है उसका आधार समझा जाय। विचिकित्साका अर्थ है अपनेमें अधिक गुण समझकर अपनी प्रशंसा करना और दूसरेकी हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि रखना, इसको विचिकित्सा कहते हैं। प्रसिद्ध तो विचिकित्साका अर्थ ग्लानि है। ग्लानि भी कब होती है जब कभी अपने आपको अधिक गुणी समझा जा रहा हो और दूसरेको हीन समझा जा रहा हो। कोई रोगी पुरुष है, उससे ग्लानि की जा रही है तो वासनामें यह जान रहा है कि मैं ऐसा साफ हूं और दूसरेकी उच्चता ध्यानमें नहीं रहती है, ऐसी स्थितिमें विचिकित्सा होती है। विचिकित्साके ढंगकी बात कहाँ तक बतायी जाय ? किसी पुरुषको गुरुमें विचिकित्सा हो सकती है। जो गुरुकी सेवा करनेमें अपनी ही ग्लानि समझे। अरे गुरुवोंकी बात तो दूर रही, भगवानकी पूजा करते हुए भी मोही जनोंके चित्तमें यह वासनामें बैठा हुआ है कि बड़े हैं तो हम हैं, और हम इन भगवानको बहका लेते हैं, इनमें कोई चतुराई नहीं है, हम तो बड़े चतुर हैं तभी तो देखो हम उनकी भक्ति करके महावीरजी में या और किसी देशमें जाकर मुकदमोंकी जीत कर लेते या

http://www.jainkosh.org

सम्पत्ति बढ़ा लेते हैं। इस तरहकी वासना उनको वहाँ भी नहीं टूटती है। कुछ विचिकित्सा की परिणतिकी बात एक अनूठी ही भीतरमें समायी है मोही जीवोंके। कहनेका अर्थ यह है कि ग्लानिका आधार भी अपनेको गुणाधिक समझना है। जिसके चित्तमें यह बात आयी कि हमें तो पद-पदपर अपनी नम्रता कराना है, अच्छे काम करते हुए। बुरे काम करके नीचे गिरना तो इस जीवकी अनादिकालकी टेक है। किन्तु अपने गुणोत्कर्षके लिए हमें अपनी नम्रता करना है, इस तरहका कोई भाव रखता है तो वह विचिकित्सा दोषको दूर कर सकने वाला होता है। तो यहाँ विचिकित्साका स्वरूप कहा गया है कि अपनेको अधिक गुणी समझकर अपनी प्रशंसा करना। प्रशंसा वचनोंसे ही नहीं की जाती, किन्तु कायकी चेष्टाओंसे भी होती है। अपनेमें अपनी श्लाघा और दूसरोंके अपकर्षमें बुद्धि जाना, इसका नाम है विचिकित्सा।

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः।
गुण सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥५७६॥

विचिकित्सारहित भावके चिह्नोंके कथनका संकल्प—विचिकित्साका लक्षण ऊपर श्लोकमें कहा गया है। ऐसी विचिकित्सा जहाँसे निकल गई हो उस पुरुषको कहते हैं निर्विचिकित्सक। विचिकित्सासे पृथक् हुए पुरुषको निर्विचिकित्सक कहते हैं। ऐसी यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दृष्टि जीवका उच्च गुण है। सो ऐसी निर्विचिकित्सा जिस सम्यग्दृष्टि जीवके प्रकट हो गई है उसकी वृत्ति किस प्रकार हुआ करती है, उसका वर्णन करते हैं।

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्राऽसाताघृणास्पदे।
यन्नादयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥५८०॥

निर्विचिकित्सके दुःखित जीवमें अदयापरताका अभाव—निर्विचिकित्सक पुरुष वह है जो पुरुष दुःखी पुरुषोंमें भी अदयाका भाव नहीं रखता। जिन जीवोंके तीव्र असाता वेदनीयका उदय है और उसके कारण जो निन्द्य साधनरूप बन रहा है ऐसे दुःखी पुरुषके बारेमें अदयाबुद्धि न होना यह निर्विचिकित्सा कहलाती है। इस स्पष्टीकरणमें भी कैसा सुन्दर आधार बताया गया है कि दुःखी पुरुषमें अदयाबुद्धि न होना सो निर्विचिकित्सा है। गुरुजनों की सेवा लोग भक्तिवश करते हैं, पर उस भक्तिके साथ दयाका भी मिश्रण है। दयाकी बात कहते हुए कुछ लोग यों संकोच करते हैं कि जो हमसे बड़े पुरुष हैं उनके प्रति यह कहना कि उनपर दया करके हम सेवा करते हैं, तो यह जरा युक्तिमें ठीक नहीं बैठता है और जब कहते हैं कि हम उनकी सेवाभक्ति करते हैं तो अच्छा लगता है। बात तो सही है कि गुरुजनों की सेवा भक्ति बिना नहीं होती, लेकिन उस गुरुभक्तिके साथ दया भी मिली हुई है। जब कोई पुरुष व्याधिसे बेचैन हो रहा हो और उसकी व्यथा स्पष्ट बड़े क्रन्दनरूप हो रही हो तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसी व्यथाको देखकर भीतरमें दया बुद्धि भी होती है और भक्ति तो उसकी मूल थी ही। तो उस सेवामें भी दयाका प्रसंग पड़ा हुआ है, अतएव यहाँ कह रहे हैं कि जिसके असाताका उदय है और जिसके कारण कोई ग्लानिरूप अवस्था आ गयी है तो ऐसे दुःखी पुरुषमें अदयारूप चित्तका न होना इसे कहते हैं निर्विचिकित्सा।

नैतत्तन्मनस्यज्ञानस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम्।
नासावस्मत्समो दीनो बराको विपदाँ पदम् ॥५८१॥

निर्विचिकित्सात्माके स्वको सम्पदाधाम व परको विपद्धाम माननेके अज्ञानका अभाव—सम्यग्दृष्टि जीवके विचार किस प्रकार चलते हैं—यह बात बतानेसे पहिले अज्ञानी जनोंकी चित्तवृत्तिकी बात देखिये और उसे समझकर फिर निष्कर्ष यों निकालना कि इस तरहकी दुर्भावना सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं है, इस कारण उसके निर्विचिकित्सा गुण प्रकट होता है। अज्ञानी जन यह वासना बनाये हुए हैं कि मैं सम्पदाका घर हूं और ये बेचारे दीन विपत्तियोंके घर हैं। जिनको महापुरुषोंपर भक्ति नहीं उमड़ी है, और वे कदाचित् असाताके उदयसे व्याधि आदिकमें घिर गए हैं तो उन्हें देखकर ऐसा विश्वास तो होता है कि देखो—मैं कितना सुखी हूं, स्वस्थ हूं और सम्पत्तियोंका घर हूं और ये देखो कैसे विपत्तियोंके घर बने हुए हैं ? अज्ञानी जीवको इस शरीरके अन्दर बसी हुई शुद्ध आत्मज्योतिका पता नहीं है कि कोई शरीरसे बड़ा व्याधिग्रस्त होकर भी भीतरमें वह अपने अन्तःस्वरूपके आनन्दको भोग रहा है। वह तो यों ही निरखता है कि मैं तो सम्पत्तियोंका घर हूं, स्वस्थ हूं, बहुत अच्छा हूं और यह दीन बेचारा कितनी विपत्तिमें पड़ा हुआ है ? ऐसी दृष्टि सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं है, यह अज्ञानभरी दृष्टि है। ज्ञानी जीवको तो उसके रत्नत्रय गुणपर दृष्टि पहुंचती है। जिस भक्तिके प्रसादसे प्रेरित होकर वह उनकी सेवामें निरत रहता है। तो निर्विकित्सा गुणमें यह अज्ञान नहीं बसा है कि कोई यह समझे कि मैं तो सम्पत्तियोंका घर हूं और यह दीन विपत्तियोंसे घिरा हुआ है, यह मेरे समान नहीं हो सकता, ऐसा अज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं बसा है।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः।
प्राणिनः सदृशा सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥५८२॥

निर्विचिकित्सात्माके सर्व प्राणियोंमें स्वरूपसाम्यका परिचय—उक्त श्लोकमें बताया हुआ अज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता। तो किस प्रकारका ज्ञान होता है इस प्रसंगमें, सम्यग्दृष्टि जीवकी यह बात इस श्लोकमें कही जा रही है। ज्ञानी जीवके ऐसा ज्ञान होता है अथवा होना ही चाहिए कि कर्मके उदयसे जो ये त्रस स्थावर आदिक नाना आकारोंमें, अवस्थाओंमें प्राणी आये हैं ये सभी प्राणी एक समान हैं। जिसने अपने अन्तःप्रकाशमान उस सहज चैतन्यस्वभावका ज्ञान द्वारा अनुभव किया है उस पुरुषको यह विदित है कि इस आत्मा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का मूलस्वरूप, सहजस्वरूप इस तरह चैतन्यस्वभावमात्र है। तब वह बाहरमें भी सब प्राणियोंमें निरखता है कि यह चैतन्यस्वरूप सर्व प्राणियोंमें है। इस चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे तो सब प्राणी एक समान हैं, ऐसी समानता जिसने निर्णीत कर ली है, ऐसे पुरुषमें मूलतः यह विचार नहीं आ सकता कि मैं श्रेष्ठ हूं और मेरे समान यहाँ कोई दूसरा कैसे हो सकता है ? यह ज्ञानी जीव दोइन्द्रिय पशु-पक्षी आदिक अनेक जीवोंको देखकर भी यह दृष्टि रखता है कि स्वरूपतः सर्व जीव सदृश हैं। मैं किसी जीवसे कोई विशिष्ट स्वरूप वाला होऊँ और ये सब मेरे स्वरूपसे हीन स्वरूप वाले हों, ऐसा नहीं है, किन्तु जो वर्तमान स्थिति उत्पन्न हुई है वह सब कर्मविपाकसे उत्पन्न हुई है, यह सब कर्मोंका नाट्य है। जितनी जो कुछ भी ये विषमतायें नजर आ रही हैं वे सब कर्मके नाच हैं। स्वरूप तो सर्वत्र वही एक है जो कि सहज सुन्दर है, ऐसी दृष्टि मिथ्यादृष्टि पुरुषके नहीं होती है।

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात्।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥५८३॥

पर्यायभेद होनेपर भी स्वरूपसाम्यकी अविचलताका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—उक्त बात को इस तरह दृष्टान्त द्वारा समझ लीजिए कि जैसे किसी शूद्री, चाण्डालिनीके दो लड़के एक साथ उत्पन्न हुए, अब उस शूद्रीका परिवार बहुत निर्धन था। उसे बड़ा खेद हुआ कि जितने अभी परिवारके लोग हैं उनके ही खानेको पूरा भोजन नहीं मिल पाता, सब अधपेट भूखे रहते हैं तो इन बच्चोंको हम क्या खिलायेंगे, इनकी कौन सम्हाल करेगा ? या अन्य किसी कारणवश मानो वह शूद्री उन बच्चोंको पृथक्-पृथक् जगहोंमें छोड़ आयी। वहाँसे कोई एक शूद्र आदमी जो कि निःसंतान था, गुजरा व एक बालकको देखा तो बड़ा खुश हुआ और उठाकर अपने घर ले आया। दूसरे बालकको मानो कोई ब्राह्मण पा गया। वह ब्राह्मण भी निःसंतान था। वह भी एक बच्चा अपने घर उठा लाया। अब दोनों बच्चे दोनों घरोंमें पल-पुषकर तैयार हो रहे थे। शूद्रगृहस्थ बालक तो मद्य-मांस वगैरा अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करता था, और विप्रगृहस्थ बालक इनका विरोध करता था तथा पूजा-पाठ, धर्म-कर्म आदि करता था। अब देखिये—एक ही माँ के दो बेटे दो जगह पले-पुसे तो बाहरी रूपसे उनकी क्रियाओंमें कितना अन्तर दिखाई पड़ रहा है ? एक बालक तो मद्य आदिक गंदी चीजोंसे नहाया करता है याने मद्यादिका खूब सेवन करता है और दूसरा उनसे छिः छिः करता है। इस तरहसे उनकी वृत्तियोंमें अन्तर आ गया, पर कोई जन्मकी बात समझे तो यह कहा जायगा कि दोनों ही बालक शूद्रीके हैं, दोनों ही जन्मजात शूद्र हैं। तो जैसे यहाँ भ्रमसे मान लिया गया कि यह अच्छा है, यह बुरा है, इसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्तमें घटाओ—देखिये—दृष्टान्त यहाँ कुछ विपरीत लग रहा होगा। दृष्टान्तमें तो यह बताना था कि ये सब जीव स्व-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रूपसे बड़े विशुद्ध समान हैं और बाहरमें अन्तर पड़ गया है बिगाड़का, और दृष्टान्त यहाँ यों आया है कि जन्मसे तो ये बालक शूद्र हैं, खराब हैं और अन्तर आ गया है—एक अच्छा काम कर रहा, एक बुरे काम कर रहा, तो मूलमें अच्छे बुरेकी दृष्टि न देकर दृष्टान्तमें यह निहारता है कि मूलमें तो समानता है और व्यवहारमें अन्तर है। इसी तरह इन सब जीवों में मूल स्वरूपसे तो समानता है और व्यवहारमें अन्तर है कि कोई त्रस है, कोई स्थावर है, यह दृष्टान्त पुण्य-पापकर्मके सम्बन्धमें सही घटित हो जाता है कि जैसे मूलमें बालक खराब है और व्यवहारमें अन्तर है, ऐसे ही पुण्य-पापकर्म ये दोनों ही अज्ञानरूप हैं, खराब हैं और व्यवहारमें उनके फलमें अन्तर है। यहाँ दृष्टान्तमें इतना ही ढंग लेना है कि मूलमें समान होकर भी व्यवहारमें सान्तर हो गया। इसी तरहसे ये समस्त जीव मूलमें समान होकर भी ये व्यवहारमें नाना जीव योनियोंके भेदसे सान्तर हो गये। तो ज्ञानी जीव तो यों ही निरख रहा है सभी जीवोंको कि ये सब जीव मूलतः एक समान हैं।

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहंता चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसः ॥५८४॥

स्वरूपसम संसारी प्राणियोंमें कर्मसम्बन्धके कारण परिणतियोंकी विभिन्नता—जल में जिस तरह काईका सम्बन्ध होता है तो जल तो जल ही है, काई अपवित्र है और उस अपवित्र काईके सम्बन्धसे जल भी उस प्रकार परिणम रहा है या प्रतीत हो रहा है। इसी तरह जीवमें जब तक कर्मका सम्बन्ध है तब तक इस कर्ममलीमस जीवके अविशेषतासे अहं-बुद्धि लगी हुई है अर्थात् परपदार्थमें जो निज आत्मतत्त्वमें विशेषस्वरूप न समझनेके कारण परमें आपाबुद्धि लग गयी है कि यह पर है सो मैं हूं, अर्थात् इस मोही जीवने अन्य पदार्थोंमें आपा मान रखा है। देखिये विचिकित्साका आधार यह है कि जो अपनी पर्याय बन रही है उसमें आपाबुद्धि हो रही है। मैं मनुष्य हू, मैं ऐसी पोजीशन वाला हूं, इस प्रकार परतत्त्वमें जो आत्मबुद्धि लग गयी यह विचिकित्साका आधार बन रहा है तो मोही जीवके इस तरह की आत्मबुद्धि लगी है, इस तरह उसकी विचिकित्सा है, पर पर्यायमें आत्मबुद्धि न होनेसे और सब प्राणियोंको समान समझनेसे सम्यग्दृष्टि पुरुषके निर्विचिकित्सा गुण ही प्रकट होता है।

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥५८५॥

सुदृष्टिके निर्विचिकित्स गुणकी अवश्यंभाविता—यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टि का ही गुण है, किन्तु सम्यग्दृष्टिको छोड़कर अन्य जगह यह निर्विचिकित्सा गुण प्रकट नहीं होता। सम्यग्दृष्टियोंमें निर्विचिकित्सा नहीं आती। यद्यपि कुछ इस गुणके सम्बन्धमें बात

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ऐसी लग रही है तो क्या सम्यग्दृष्टि जीव सदा ऐसे ही विकल्पमें रहता है कि सब जीव समान हैं ? मैं जिस स्वरूपमें हूं उस स्वरूपसे यह है, मुझसे यह हीन नहीं है, क्या ऐसे विकल्प को करते ही रहना होगा ? निर्विचिकित्साका ऐसा व्यावहारिक परिणमन सम्यग्दृष्टि ऐसा करे ही, ऐसी बात नहीं है, किन्तु उसे इस प्रसंगमें यदि कोई विकल्प आये वह तो व्यवहारमें बढ़े तो उसे निर्विचिकित्सा गुण आयगा, विचिकित्साका भाव न आयगा । तो यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दृष्टि जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं पायी जाती है, इस कारण यह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है ।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥५८६॥

पर्यायरत जीवोंमें निर्विचिकित्स गुणकी असंभवता—निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टि के प्रकट नहीं होता, इसीके समर्थनमें इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि अज्ञानीके यह गुण क्यों प्रकट नहीं होता है ? जड़ और चेतनमें यद्यपि है तो परस्परमें अन्तर जड़में, जड़ता है, चेतनमें चेतना है, दोनोंमें महान अन्तर है, लेकिन अंतर तो जरूर है, पर मोहवश अज्ञानी जीव इन दोनोंको एक समझमें रखता है । तो इन दोनोंको एककी जो उपलब्धि हो रही है अर्थात् कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए इस रागपर्यायमें जो मुग्ध हो रहा है तो ऐसे स्वरूपसे च्युत हुए जीवके निर्विचिकित्सा गुण कहाँसे प्रकट हो सकता है ? यहाँ यह बताया गया है कि चेतन और जड़को एक समझने वाले कर्मकी पर्यायमें उसकी बुद्धि गई है । रागादिक भाव केवल चेतनमें उत्पन्न नहीं होते और न कर्ममें उत्पन्न होते हैं । कर्मका उदय निमित्त पाकर जीवकी जो झाँकी बनती है तो ये सब कर्मके व्यपदेश कहलाते हैं । इनमें इसका उपयोग ठहरा हुआ है, इस कारण अज्ञानी जीवको निर्विचिकित्साकी झाँकी नहीं आ सकती । उन सब जीवों की इस सहजस्वरूपकी समानताका वे विश्वास नहीं कर सकते, इस कारण अज्ञानी जीवके निर्विचिकित्सा गुण प्रकट नहीं हो सकता ।

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥५८७॥

सम्यग्दृष्टि जीवके निर्विचिकित्स गुणका समर्थन—उक्त प्रकारसे सम्यग्दृष्टिके यह सब गुण युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया है । यह निर्विचिकित्सा गुण निःशङ्कितता व निराकांक्षता की भाँति सम्यग्दृष्टिका निसर्गज गुण है । ज्ञानी पुरुष इन गुणोंको सम्यग्दर्शनके साथ होनेको अवश्यंभावी बताते हैं । हाँ यहाँ धर्मात्मावोंके प्रसङ्गमें व्यवहारतः आने वाले निर्ग्लानि सेवा करने आदिकी अवश्यंभाविता नहीं भी है तथापि निश्चयदृष्टिसे परखा गया शंकानुपलम्भ, भोगाकांक्षानुपलम्भ व विचिकित्सानुपलम्भरूप गुणकी तो सम्यग्दर्शनके साथ अवश्यंभाविता तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निश्चित ही है। यदि कोई इन गुणोंकी विवक्षा न करे तो कहीं यह अविवक्षा दोषके जिये न बन जावेगी और कोई इन गुणोंकी विवक्षा करे तो कहीं यह न समझ बैठना कि सम्यग्दृष्टि में गुणोंकी प्रतिष्ठा की जा रही है ? सम्यग्दृष्टिमें तो ये गुण सम्यक्त्वके साथ ही आविर्भूत हो चुके हैं। भला सोचिये—होगा कोई क्या ऐसा सम्यग्दृष्टि जो स्वरूपमें शंकित हो या भयभीत हो, क्या होगा कोई ऐसा सम्यग्दृष्टि जो इन्द्रियविषयोंके लिये लार टपकाता हो, क्या होगा कोई ऐसा सम्यग्दृष्टि जो अपना स्वरूप अन्य जीवसे गुणाधिक समझता हो ! निःशङ्कता, निराकांक्षता व निर्विचिकित्सा तो सम्यग्दृष्टिमें होती ही है। अहा जयवंत होओ सम्यग्दृष्टिका पवित्र अन्तर्विलास।

॥ इति ॐ शान्तिः ॥

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन एकादश भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित
"पञ्चाध्यायी प्रवचन" का यह एकादश भाग सम्पन्न हुआ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com